स्त्री और पुरुष

卐

सस्ता साहित्य मण्डल
दिल्ली

स्त्री और पुरुष

[टाल्स्टाय]

अनुवादक
वैजनाथ महोदय बी० ए०

प्रकाशक
सस्ता-साहित्य मण्डल,
दिल्ली

तीसरी बार, ११००
अगस्त, उन्नीस सौ छत्तीस
मूल्य आठ आना

पूज्य मालवीयजी की अपील

"सस्ता साहित्य मण्डल ने हिन्दी में उच्चकोटि की पुस्तकें सस्ती निकालकर हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सर्वसाधारण को इस संस्था की पुस्तकें लेकर इसकी सहायता करनी चाहिए।"

मदनमोहन मालवीय

मुद्रक—
हरनामदास गुप्त,
भारत प्रिंटिङ्ग वर्क्स,
बाज़ार सीताराम, देहली

उन अनिच्छुक भाई-बहनों के
हाथों में, जो भोग-विलास को
जीवन का सुख और ध्येय मान
बैठे हैं, या विवाहित होकर दुःखमय
जीवन व्यतीत कर रहे हैं, या विवाह
को प्रकृति के धर्म का पालन समझ
विवाह की कल्पना से स्वर्गीय रस
का स्वप्न देखा करते हैं, या जो
उच्छृङ्खल वैवाहित जीवन व्यतीत
कर दैव पर दुष्टता का आरोप करते
फिरते हैं, साग्रह समर्पित ।

अनुवादक

दो शब्द
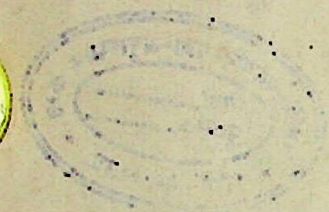
काउण्ट टाल्स्टाय की गणना योरप के महापुरुषों में की जाती है। वह एक महान् विचारक और कला-मर्मज्ञ हो गये हैं। जीवन को उच्च और सुन्दर बनानेवाले प्रायः प्रत्येक विषय पर उन्होंने दिव्य ग्रन्थों की रचना की है। मौलिकता और सूक्ष्मता उनकी विचार-प्रणाली के मुख्य गुण हैं। उनके दिव्य विचार हृदय में बैठे बिना नहीं रहते। 'स्त्री और पुरुष' उन्हीं की मार्मिक लेखनी से निकली अपूर्व पुस्तक का अनुवाद है। इसका विषय है स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध का आदर्श। टाल्स्टाय ने ब्रह्मचर्य को आदर्श, विवाह को मनुष्य-जाति की कमज़ोरी की रिआयत और मानव-जाति की सेवा को उसका उद्देश माना है। हज़रत ईसा-मसीह की शिक्षाओं का यही सार आपने बताया है। उनका यह निष्कर्ष हमारे हिन्दू-धर्म के जीवनादर्श और विवाहोद्देश के बिलकुल अनुकूल है। उनकी मूल पुस्तक ईसाई और योरपवासियों को ध्यान में रखकर लिखी गई है, इसलिए उसमें ईसामसीह की शिक्षाओं का विवेचन प्रधान रूप से होना स्वाभाविक है।

भारतवर्ष के सामने भी इस समय स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न बड़े विकट रूप में उपस्थित है। ब्रह्मचर्य के उच्च आदर्श तथा विवाह के सच्चे उद्देश्य को भूल जाने के कारण हमारा न केवल शारीरिक ह्रास हो ही रहा है, बल्कि मानसिक और आत्मिक पतन भी हो गया है और होता जा रहा है। विषय-क्षुधा के असहाय शिकार होकर हम एक ओर जहाँ दाम्पत्य-जीवन को कलह, व्याधि और अशान्तिमय बना रहे हैं, तहाँ दूसरी ओर समाज और देश को पतन के ग़लत रास्ते की ओर ले जा रहे हैं। बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह जैसे भयंकर राक्षस

जिस समाज को एक ओर से निगल रहे हैं, और दूसरी ओर जिसका युवक दल असीम विषयोपभोग को ईश्वरीय इच्छा, प्राकृतिक धर्म का पालन समझकर विनाश के गर्त में गिरने में मग्न है, उसके लिए ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन—ऐसे दिव्य विचार-रत्नों का प्रचार, ईश्वरीय देन समझना चाहिए। विवाह और दाम्पत्य-धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः प्रत्येक महत्वपूर्ण गुत्थी पर इसमें दैवी प्रकाश डाला गया है—उसे एक प्रकार से मौलिक रूप से सुलझाने का यत्न किया गया है और मेरा ख़याल है कि टाल्स्टाय को उसमें पूरी सफलता मिली है।

ऐसी अनमोल और सो भी इतने गम्भीर और महत्वपूर्ण विषय पर एक महान् क्रांतिकारी मौलिक विचारक की लिखी पुस्तक के अनुवाद का अधिकारी मैं अपने को नहीं मान सकता। इस अनधिकार-प्रवेश का साहस केवल इसी कारण हुआ है कि मुझे टाल्स्टाय का स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी आदर्श प्रिय है और उसके पालन का दीर्घ उद्योग किये बिना मैं भारत की शारीरिक उन्नति और नैतिक विकास को असम्भव मानता हूँ। लोहे की अंगूठी में जड़ा यह रत्न पाठकों को अखरेगा तो; पर आशा है वे यह समझ कर मेरे साहस को अपना लेंगे कि मेरे पास जो अच्छी से अच्छी चीज़ थी, उसीके साथ मैंने इस रत्न को उनके अर्पण करने की चेष्टा की है। रत्न तो स्वयं प्रकाश्य होता है, लोहे में से भी वह अपनी प्रभा फैलाये बिना न रहेगा।

वैजनाथ महोदय

स्त्री और पुरुष

"ब्रह्मचर्य वह आदर्श है, जिसके लिए प्रत्येक मनुष्य को हर हालत में और हर समय प्रयत्न करना चाहिए। जितना ही तुम उसके नज़दीक जाओगे, उतना ही अधिक परमात्मा की दृष्टि में प्यारे होओगे और अपना अधिक कल्याण करोगे। विलासी बनकर नहीं, बल्कि पवित्रता-युक्त जीवन व्यतीत करके ही मनुष्य परमात्मा की अधिक सेवा कर सकता है।"

विषय-प्रवेश

समाज के प्रायः सब लोगों में यह धारणा जड़ पकड़ गई है कि विषयभोग (मैथुन) स्वास्थ्य-रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक है। झूठे विज्ञान के द्वारा इसका समर्थन भी किया जाता है। इस मान्यता को ग्रहीत करके लोग कहते हैं कि चूंकि विवाह कर लेना प्रत्येक मनुष्य के हाथ में नहीं है इसलिए व्यभिचार द्वारा अपनी विषय-क्षुधा को शान्त करना पूर्णतः स्वाभाविक है। सिवा पैसे के इसमें मनुष्य पर किसी प्रकार का बन्धन भी नहीं है। अतः इसको उत्तेजन देना चाहिए।

यह भ्रम-मूलक धारणा समाज में इतनी फैल गई है कि कितने ही माता-पिता अपने बच्चे के स्वास्थ्य के विषय में चिन्तित हो, डाक्टर की सलाह लेकर, उन्हें घृणित कार्य के लिए उत्साहित करते हैं। सरकारों का धर्म है कि वे अपनी प्रजा के नैतिक जीवन को उच्च बनाये रक्खें। पर वे भी दुर्गुणों को उत्तेजना देती हैं। पुरुषों के एक पृथक् वर्ग का ही संगठन करती हैं, जो उन बेचारियों को शारीरिक और आध्यात्मिक विनाश के गड्ढे में ढकेल देता है, और अविवाहित पुरुष बिलकुल चुपचाप इस बुराई के पंजे में फंसते चले जाते हैं।

मैं कहना चाहता हूँ कि यह बुरा है, यह अनुचित है कि कुछ लोगों के स्वास्थ्य की रक्षा के लिए दूसरों के शरीर और आत्मा का नाश

किया जाय। कुछ आदमियों का अपने स्वास्थ्य लाभ के लिए दूसरों का खून पीना जितना बुरा होगा उतना ही बुरा यह कार्य भी है।

मैं तो इससे यही नतीजा निकाल सकता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह इस ग़लती और भ्रम से अपने को दूर रक्खे। और इन बुराइयों से बचने का सबसे सरल उपाय तो यही है कि वे किसी भी अनीतिकर शिक्षा पर विश्वास न करें। चाहे वह झूठा विज्ञान भी इसका प्रत्यक्ष समर्थन करे, तो भी मनुष्य को चाहिए कि वह उसकी तरफ़ ध्यान न दे। दूसरे, मनुष्य अपने हृदय में यह अंकित करले कि यह व्यभिचार जिसमें पुरुष अपने पापों के फलों से बचने की कोशिश करके उनका तमाम भार स्त्रियों पर डाल देता है, जो संतति-निरोध के लिये कृत्रिम उपायों की आयोजना करती हैं, केवल कायरता है। यह सुनीति का भारी-से-भारी उल्लंघन हैं। अतः पुरुषों को यदि कायरता से बचना है तो इन पापों के जाल में अपने को भूल कर भी न फँसने देना चाहिए।

यदि पुरुष संयमशील जीवन पसन्द करें तो उन्हें अपना जीवन-क्रम अत्यन्त सरल और स्वाभाविक बना लेना चाहिए। उन्हें न कभी शराब पीनी चाहिए और न अधिक भोजन ही करना चाहिए। मांसाहार भी छोड़ देना अच्छा है। परिश्रम से (यहाँ अखाड़े की कसरत से नहीं बल्कि सच्चे थका देनेवाले उत्पादक परिश्रम से मतलब है) मनुष्य मुंह न मोड़े। मनुष्य अपनी माता, बहन अन्य रिश्तेदार अथवा अपने मित्रों की पत्नियों से जिस तरह सावधानता-पूर्वक रहता है वैसे ही अन्य अपरिचित स्त्रियों से भी रहने की कोशिश करें। यथासम्भव स्त्रियों

के साथ कभी एकान्त में न ठहरे। यदि वह इतना जागरूक रहेगा तो अपने आस-पास वह ऐसे उदाहरण देखेगा, जो उसको सिद्ध करके दिखा देंगे कि संयमशील जीवन व्यतीत करना केवल संभवनीय ही नहीं बल्कि असंयमशील जीवन की अपेक्षा कहीं कम खतरनाक और स्वास्थ्य के लिए कम हानिकर है। यह हुई पहली बात।

दूसरे, फैशनेबल समाज के दिल में यह खयाल जम जाने के कारण कि विषय-भोग स्वास्थ्य-रक्षा के लिए अनिवार्य है, वह एक आनन्द-दायक वस्तु है, और जीवन में काव्यमय तथा उच्च कोटि का वरदान है, समाज के सभी अंगों में व्यभिचार एक मामूली-सी बात हो गई है। (मज़दूर-पेशा लोगों में इस बुराई का कारण फौजी नौकरी भी है।) मेरा खयाल है कि यह भी अनुचित है और इन सब बुराइयों को दूर करना परमावश्यक है।

इन बुराइयों को दूर करने के लिए यह परमावश्यक है कि स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी प्रेम-विषयक जो कल्पनायें हैं, उन्हें बदल दें। माता-पिताओं द्वारा लड़के-लड़कियों को यह शिक्षा मिलनी चाहिए कि विवाह के पहले तथा बाद में स्त्री-पुरुषों का आपस में प्रेम करना और उसके बाद विषयोपभोग में मग्न हो जाना कोई काव्यमय और तारीफ़ के योग्य उच्च बात नहीं है। यह तो पशु-जीवन का चिन्ह है, जो मनुष्य को नीचे गिरा देता है।

वैवाहिक प्रतिज्ञा का भंग करनेवाले की समाज की ओर से कम से कम उतनी ही प्रताड़ना और भर्त्सना तो ज़रूर होनी चाहिए, जितनी कि आर्थिक कर्तव्यों के भंग करनेवाले अथवा व्यापार में धोखेबाज़ी

करनेवाले की होती है। नाटक, उपन्यास, कवितायें, गीत और सिनेमा द्वारा इस बुराई की प्रशंसा कर-करके समाज के अन्दर जो आज इसके भयंकर कीटाणु बुरी तरह फैलाये जा रहे हैं, इसको बिलकुल रोक देना चाहिए। यह हुई दूसरी बात।

तीसरे, विषयोपभोग को मिथ्या महत्व देने के कारण हमारे समाज में संतानोत्पत्ति का सच्चा अर्थ नष्ट हो गया है। संतानोत्पत्ति विवाहित जीवन का उद्देश्य और फल होने के बजाय वह अब स्त्री-पुरुषों के लिए विषय-सुख का बाधक मानी जाने लग गई है। फलतः डाक्टरों की सहायता से विवाह के पूर्व और पश्चात् संतति-निरोध के उपायों का काम में लाया जाना एक मामूली से मामूली बात होती जा रही है। पहले गर्भावस्था और शिशु-संवर्धन के समय में स्त्री-पुरुष विषयोपभोग नहीं करते थे, आज भी पुराने परिवारों में वह नहीं होता। पर अब तो गर्भावस्था और शिशु-संवर्धन के काल में भी विषयोपभोग करना एक मामूली रिवाज-सा हो गया है। यह भी नितान्त अनुचित है।

सन्तति-निरोध के लिए कृत्रिम उपायों का अवलम्बन करना बहुत ही बुरा है। क्योंकि मनुष्य बच्चों के पालन-पोषण तथा शिक्षा आदि के चिन्ता-भार से मुक्त हो जाता है। अपनी ग़लती के दण्ड से वह कायरता-पूर्वक जी चुराता है। यह सरासर अनुचित और बुरा है। स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में यदि कोई समाधान के योग्य बात हो तो वह केवल यही संतानोत्पत्ति है। मानव-विवेक के लिए यह अत्यन्त जघन्य बात है। क्योंकि गर्भावस्था और शिशु-संवर्धन के काल में विषयोपभोग करने से स्त्री की शारीरिक और अध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण विनाश हो जाता है।

अतः इस दृष्टि से विचार करते हुए भी हम इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि यह बुराई हमारे अन्दर से जितनी जल्द हो सके दूर करना चाहिए। इसको यदि दूर करना है तो मनुष्य को चाहिए कि वह संयम के महत्व को समझ ले। जो संयम अविवाहित अवस्था में मानव-गौरव की अनिवार्य शर्त है, वह विवाहित जीवन में पहले से भी अधिक आवश्यक है। यह हुई तीसरी बात।

चौथे, जिस समाज में बच्चों का पैदा होना विषयानन्द में एक विघ्न, एक अभागा संयोग, अथवा नियमित संख्या में ही हो तो सुख का विषय समझा जाता है, उसमें इनका पालन-पोषण तथा संवर्धन इस खयाल से नहीं किया जाता कि वे बड़े होने पर उन प्रश्नों को सुलझावें, जो कि उन्हें विवेकशील प्रेमी जीव समझकर उनकी राह देख रहे हैं, बल्कि माता-पिता उनका पालन इस खयाल से करते हैं कि वे उनको सुख दें। फलतः मनुष्यों के बच्चे पशुओं के बच्चों की तरह पाले-पोसे जाते हैं। उनका पालन-पोषण करते समय माता-पिता यह कोशिश नहीं करते कि हमारे बच्चे बड़े होने पर मानवता के उलझे हुए प्रश्नों को सुलझाने योग्य बनें। बल्कि वे तो उन्हें मोटा, ताज़ा, सुन्दर और सुडौल बनाने के लिए खिलाते-पिलाते हैं और एक झूठा शास्त्र-वैद्यक-इनका समर्थन करता है। यदि निचले दर्जे के लोग यह नहीं करते तो इसका कारण कोई उच्च आदर्श नहीं बल्कि उनकी दरिद्रता है। चाहते तो वे भी यही हैं कि उनके बच्चे भी धनिकों के बच्चों के जैसे ही सुन्दर, सुडौल और मोटे-ताज़े हों।

इन हद से ज़्यादा खानेवाले बच्चों में, अन्य तमाम ज़्यादा खाने वाले पशुओं के समान एक बहुत अस्वाभाविक, कम उम्र में दुर्दमनीय,

वैषयिकता उत्पन्न हो जाती है, जो बड़े होने पर उन्हें बेतरह सताती है। उनकी इस वैषयिकता को उनके वायुमण्डल से भी असाधारण पोषण और उत्तेजना मिलती है। कपड़े, किताबें, दृश्य, संगीत, नृत्य, मेले और सन्दूकों पर की तस्वीरों से लेकर कथा-कहानियाँ और कवितायें तक जीवन की तमाम अन्यान्य आवश्यक चीजें उनकी कामुकता को बेहद बढ़ाती चली जाती हैं।

फल यह होता है कि समाज के युवक-युवतियाँ जीवन के वसन्त-काल ही से भीषण रोग के शिकार होने लग जाते हैं। यह अत्यन्त दुःख की बात है।

इससे हमें क्या शिक्षा लेनी चाहिए ? यही कि मनुष्यों के बच्चों का पालन-पोषण पशु के बच्चों की तरह हानिकारक है। शिशु-संवर्धन के समय बच्चे के मोटे-ताज़े और सुडौल बनाने की अपेक्षा दूसरी बातों की ओर हमें विशेष ध्यान देना चाहिए। यह हुई चौथी बात।

पाँचवें, हमारे समाज में युवक और युवतियों का आपस में प्रेम करना मानव-जीवन की सर्वोच्च काव्यमय महत्वाकांक्षा समझी जाती है। (ज़रा हमारे समाज की कला और काव्य की ओर दृष्टिपात करके देख लीजिए।) युवक स्वतन्त्र प्रेम-विवाह के लिए किसी योग्य युवती को ढूंढने में और लड़कियाँ तथा स्त्रियाँ ऐसे पुरुषों का अपने प्रेम-पाशों में फँसाने में अपने जीवन का बढ़िया से बढ़िया हिस्सा यों ही बरबाद कर देते हैं।

इस देश के पुरुषों की सर्वश्रेष्ठ शक्तियाँ ऐसे काम में खर्च हो जाती हैं, जो न केवल निरर्थक बल्कि हानिकर भी हैं। इसी कारण

हमारे जीवन में इतनी मूढ़ विलासिता बढ़ती जा रही है। इसीके कारण पुरुषों में आलस्य और स्त्रियों में निर्बलता बढ़ती जाती है। कुलीन स्त्रियाँ नीच कुलटाओं की देखा-देखी नित्य नये फ़ैशन सीखती जाती हैं और पुरुषों के चित्त में काम की आग को भड़काने वाले अपने अङ्गोंका प्रदर्शन करने में ज़रा भी नहीं लजातीं। क्या यह पतन का सीधा मार्ग नहीं है?

काव्य और अद्भुत कथाओं में भले ही स्त्री-पुरुषों के इस सम्बन्ध को आनन्द के सर्वोच्च शिखर पर बैठा दिया हो, किन्तु यथार्थ में देखा जाय तो अपने प्रेम-पात्र के साथ ऐसा सम्मिलन उतना ही अनुचित है, जितना कि अच्छे-अच्छे पकवानों का खूब खा लेना सिर्फ़ इसीलिये कि कुछ लोगों की नज़र में वे एक नियामत हैं।

मनुष्य को चाहिए कि वह विषयोपभोग को एक उच्च आनन्द देनेवाली वस्तु समझना छोड़ दे। ज़रा सोचिए तो सही विषयोपभोग के कारण मनुष्य को किस पुरुषार्थ की प्राप्ति में सहायता मिलती है? विषयी मनुष्य कला, शास्त्र, देश अथवा समस्त मनुष्य-जाति—इनमें से किसी एक की भी सेवा करने योग्य नहीं रह जाता। वह प्रेम अथवा विषय-वासना मनुष्य के कार्य में कभी सहायता नहीं पहुँचाती; बल्कि, हाँ, उलटे विघ्न ज़रूर उपस्थित कर देती है—काव्य और उपन्यास भले ही उसकी तारीफ़ों के पुल बाँधें और इसके विपरीत सिद्ध करने की कोशिश करें। यह हुई पाँचवीं बात।

मैं जो कुछ कहना चाहता था, वह संक्षेप में यही है। जहाँ तक मैं सोचता हूँ, अपनी 'सोनाटा क्रूज़ा' नामक कहानी में मैंने यह दरसा भी दिया है। उपर्युक्त विवेचन-द्वारा जो बुराई बताई गई है, उसके

दूर करने के उपायों में भले ही मतभेद हो सकता हो, परन्तु मेरा खयाल है कि इन विचारों की सत्यता के विषय में तो शायद कोई असहमत न होगा।

और असहमत कोई हो भी क्यों? उसकी बात तो यह है कि इस बात को सभी मानते हैं कि मनुष्य-जाति नैतिक शिथिलता से पवित्रता की ओर धीरे-धीरे प्रगति करती जा रही है और उपर्युक्त विचार इसके अनुकूल हैं। दूसरे यह समाज और व्यक्ति दोनों के नीति-विवेक के अनुकूल भी है। दोनों वैषयिकता की निन्दा और संयम की तारीफ़ करते हैं। फिर ये बाइबल की शिक्षा के भी अनुकूल हैं, जो हमारे नैतिक विचारों की बुनियाद में है और जिसकी हम डींग मारते हैं। पर बाद में मेरा यह खयाल ग़लत साबित हुआ।

पर यह तो सत्य है कि प्रत्यक्ष रूप से इन विचारों की सत्यता में कोई शक नहीं करता कि विवाह के पहले या बाद में विषयोपभोग अनावश्यक है—कृत्रिम उपायों से सन्तति का निरोध नहीं करना चाहिए और स्त्री-पुरुषों को अन्य कार्यों की अपेक्षा विषयोपभोग को अधिक महत्वपूर्ण नहीं समझना चाहिए। अथवा, एक शब्द में कहें तो, विषयोपभोग की अपेक्षा संयम—ब्रह्मचर्य—कहीं अधिक श्रेष्ठ है। पर लोग पूछते हैं "यदि ब्रह्मचर्य विषयोपभोग की अपेक्षा श्रेष्ठ है तो यह स्पष्ट है कि मनुष्य को श्रेष्ठ मार्ग ही का अवलम्बन करना चाहिए। पर यदि वे ऐसा करें तो मनुष्य-जाति न नष्ट हो जायगी?।"

किन्तु पृथ्वीतल से मनुष्य-जाति के मिट जाने का डर कोई नवीन बात नहीं है। धार्मिक लोग इस पर बड़ी श्रद्धा रखते हैं और वैज्ञानिकों

के लिए सूर्य के ठण्डे होने के बाद यह एक अनिवार्य बात है। पर हम इस विषय में यहाँ कुछ न कहेंगे। इस दलील में एक विशाल और पुरानी ग़लत-फ़हमी है। लोग कहते हैं कि यदि मनुष्य ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहने लग जायँ तो पृथ्वी-तल से मनुष्य-जाति ही उठ जायगी, अतः यह आदर्श ग़लत है। पर इस तरह की दलील को पेश करने वालों के दिमाग़ में नियम और आदर्श की कल्पनाओं में कुछ गड़बड़ी है।

ब्रह्मचर्य उपदेश अथवा नियम नहीं। आदर्श अथवा आदर्श की शर्तों में से एक है। आदर्श तो तभी आदर्श कहा जा सकता है, जब उसकी प्राप्ति कल्पना-द्वारा ही सम्भव हो—जब उसकी प्राप्ति अनन्त की 'आड़' में छिपी हो। यदि आदर्श प्राप्त हो जाय, अथवा हम उसकी प्राप्ति की कल्पना भी कर सकें, तो वह आदर्श ही नहीं रहा।

पृथ्वी पर परमात्मा के राज्य की अर्थात् स्वर्ग की स्थापना करने का ईसा का आदर्श इसी कोटि का था और पुराने पैग़म्बरों ने इसका पहले ही भविष्य-कथन कर दिया था, जब उन्होंने कहा था कि वह समय आ रहा है, जब प्रत्येक मनुष्य को ईश्वर-विषयक ज्ञान दिया जायगा। वह समय तेज़ी से आ रहा है, जब लोगों को अपनी तलवारें तोड़ कर उनके हल और अपने भालों की क़लम करने की क़ैंचियाँ बना लेनी पड़ेंगी; जब शेर और बकरी एक घाट पर पानी पीयेंगे और समस्त प्राणिमात्र एकमात्र प्रेम के बन्धन में बँध जायँगे। मानव-जीवन का अन्तिम आदर्श यही है। अतः इस उच्च आदर्श की पूर्णता की तरफ़ हमारा क़दम बढ़ना ख़तरनाक बात नहीं है। ब्रह्मचर्य तो उस आदर्श का एक अङ्ग ही है। इससे जीवन का विनाश सम्भव नहीं, बल्कि इसके

विपरीत बात तो यही ठीक है कि इस आदर्श का अभाव ही हमारी प्रगति के लिये हानिकारक और इसी कारण जीवन के लिये खतरनाक है।

प्रेम-धर्म का पालन करने के लिए यदि जी-जान से मनुष्य यत्न करे—जीवन-कलह को छोड़ कर यदि हम भूतमात्र के प्रति प्रेम-धर्म के आदेश के अनुसार रहने लग जायँ, तो क्या मनुष्य-जाति नष्ट हो जायगी? प्रेम-धर्म के पालन से मनुष्य-जाति के विनाश का सन्देह करने के समान ही ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य-जाति का विनाश होने की शंका करना है। ऐसी शंकायें उन्हीं लोगों के चित्त में पैदा होती हैं, जो उन दो उपायों के बीच का भेद नहीं समझ पाते हैं, जो कि नीति के मार्ग-दर्शक हैं।

जिस प्रकार पथिक को रास्ता बताने के दो मार्ग होते हैं, उसी प्रकार सत्य का शोध करने वाले के लिए भी नैतिक जीवन के मार्ग-दर्शक केवल दो ही उपाय हैं। एक उपाय के द्वारा पथिक को उसके रास्ते में मिलनेवाले चिह्नों और निशानों की सूचना दी जाती है, जिनको देख कर वह अपना रास्ता ढूँढता चला जाय, और दूसरे के द्वारा उसको अपने पासवाले दिशा-दर्शक कम्पास की भाषा में रास्ता समझाया जाता है।

नैतिक मार्ग-दर्शक, पहले उपाय के अनुसार, मनुष्य को बाहरी नियम बताते हैं। उसे क्या करना चाहिये और क्या नहीं, इसका साधारण ज्ञान दिया जाता है—मसलन् सत्य का पालन कर, चोरी मत कर, किसी प्राणी की हत्या न कर, मोहताजों को दान दिया कर, शरीर

को साफ़-सुथरा रख कर ईश्वर-प्रार्थना करता जा, शराब कभी न पी, इत्यादि। धर्म के ये बाहरी सिद्धान्त अथवा नियम हैं। और किसी न किसी रूप में ये प्रत्येक धर्म में पाये जाते हैं। फिर वह सनातन वैदिक धर्म हो, बुद्ध धर्म हो, यहूदी धर्म हो, या पादरियों का धर्म हो (जो ख्वामख्वाह ईसाई मज़हब कहा जाता है)।

मनुष्य को नीति की ओर ले जाने का एक दूसरा उपाय है, जो उस पूर्णता की ओर इशारा करता है, जिसे आदमी कभी प्राप्त ही नहीं कर सकता। हाँ, उसके 'हृदय' में यह आकांक्षा ज़रूर रहती है कि वह इस पूर्णता को प्राप्त करे। एक आदर्श बताया जाता है, उसको देखकर मनुष्य अपनी कमज़ोरी या अपूर्णता का अन्दाज़ लगा सकता है और उसे दूर करने का प्रयत्न करता रहता है।

"काया, वाचा, मनसा ईश्वर की भक्ति कर और अपने पड़ौसी पर अपने निज के समान प्यार कर।"

"अपने स्वर्गीय पिता के समान पूर्ण बन।"

यह है ईसा का उपदेश।

बाह्य नियमों के पालन के मानी हैं आचार और उपदेश में सम्पूर्ण साम्य, और यह असम्भव नहीं।

आदर्श-पूर्णता से हम कितने दूर हैं, इसका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाने के ही माने हैं कि हम ईसा के उपदेशों का पालन कहाँ तक कर रहे हैं। (मनुष्य यह नहीं देख सकता कि इस आदर्श के कितने नज़दीक तक मैं पहुँचा हूँ। पर वह यह ज़रूर देख सकता है कि मैं उससे कितनी दूर हूँ।)

वाह्य नियमों का जो मनुष्य पालन करता है, यह उस मनुष्य के समान है, जो खम्भे पर लगी हुई लालटेन के प्रकाश में खड़ा हो। वह प्रकाश में खड़ा है, प्रकाश उसके चारों ओर है, पर उसके आगे बढ़ने के लिये कोई मार्ग नहीं है। ईसा के उपदेशों पर जिसका विश्वास है, वह उस मनुष्य के समान है, जिसके आगे-आगे लालटेन चलती है। प्रकाश हमेशा उससे आगे ही रहता है और उसे बराबर अपना अनुसरण करने के लिए आगे बढ़ने की प्रेरणा करता रहता है। वह बराबर नये-नये पदार्थों को प्रकाशित कर उनकी ओर मनुष्य को आकर्षित करता रहता है।

'फ़ारिसी' इसलिए परमात्मा को धन्यवाद देता है कि वह उस क़ानून का पूर्ण पालन करता है। उस धनिक युवक ने भी अपने बचपन से सम्पूर्ण नियमों का पालन किया था, किन्तु वह यह नहीं जानता कि उसके अन्दर क्या कमी है। यह स्वाभाविक भी है। उनके सामने ऐसी कोई चीज़ न थी, जो उनको आगे बढ़ने की प्रेरणा करे। दान दिये जाते, 'सबाथ' का पालन होता, धार्मिकता का सम्मान किया जाता। व्यभिचार, चोरी और खून से दूर रहते थे। और क्या चाहिए!

पर जो ईसाई आदर्श में विश्वास करता है, उसकी बात दूसरी है। एक सीढ़ी पर चढ़ते ही दूसरी पर पैर रखने की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है, दूसरी पर पहुँचते ही तीसरी सीढ़ी दीखने लग जाती है। इस तरह वह आगे ही आगे बढ़ता जाता है। उसकी प्रगति का क्रम अनन्त है।

ईसा के आदेशों में विश्वास करनेवाला सदा अपनी अपूर्णता को देखता रहता है। पीछे की ओर मुड़कर वह यह नहीं देखता कि मैं कितनी दूर आया। बस, वह तो यही देखता रहता है कि मुझे और कितनी दूर जाना है।

ईसा के उपदेशों में यही विशेषता है, जो अन्य धर्म-मार्गों में नहीं पाई जाती। भेद दावों का नहीं बल्कि प्रेरक रीति का है।

ईसा ने जीवन की कोई परिभाषा नहीं बताई। उसने विवाह वा अन्य किसी प्रकार की—किसी संस्था की—स्थापना नहीं की। पर मनुष्यों ने उसके उपदेशों की विशेषताओं को नहीं देखा। केवल बाहरी नियमों के पालन में अटके रह गये। 'फ़ारिसियों' की भांति वे यह समाधान ढूँढने लगे कि हम उसके तमास आदेशों का पालन करते हैं। इस धुन में वे ईसा के सच्चे आशय का दर्शन न कर पाये। उसके शब्दों के अनुसार, किन्तु उसके उपदेशों के ठीक विपरीत, उन्होंने नियमों का एक बाँता बना लिया, जिसे वे गिरजा के सिद्धान्त (Church doctrines) कहने लगे। इन नियमों ने ईसा के सच्चे सिद्धान्तों को अलग हटाकर अपना ही सिक्का जमा लिया।

ईसा के आदर्श उपदेशों के स्थान पर और उसके उद्देश के विपरीत इन गिरजा-सिद्धान्तों ने, जो अपने को ख्वामख्वाह ईसाई कहते हैं, जीवन के तमाम प्रसङ्गों पर अपने नियमोपनियम बना लिये। सरकार, क़ानून, गिरजाघर और पूजा के सम्बन्ध में ये नियम बनाये गये हैं। विवाह-विषयक भी कुछ नियम हैं। ईसा ने कभी विवाह–संस्था की स्थापना नहीं की। बल्कि वह तो इसके ख़िलाफ़ भी था। (अपनी

पत्नी को छोड़ कर मेरी बात मान) पर इसकी कुछ भी परवाह न कर अपने को ख्वामख्वाह ईसाई कहने वाले गिरजा सिद्धान्तों ने विवाह को एकबारगी ईसाई-संस्था क़रार दे दिया; अर्थात् उन्होंने उन वाह्य नियमों की रचना कर डाली, जिनके अनुसार एक ईसाई के लिए वैषयिक प्रेम, जैसा कि वे प्रतिपादन करते हैं, पूर्णतया पाप-रहित और जायज़ संस्कार हो जाता है।

यद्यपि स्वयं ईसा के उपदेशों के अनुसार विवाह एक ईसाई-संस्था नहीं है, तथापि अब बात यह हो गई है कि परली पार पहुँचने के उपाय की आयोजना सोचने के पहले ही मनुष्य इस किनारे को छोड़ चुके हैं। बात यह है कि विवाह-विषयक इस पादरीशाही परिभाषा में वे विश्वास नहीं करते। वे जानते हैं कि ईसाई सिद्धान्तों में इसे कहीं स्थान ही नहीं है। दूसरे वे ईसा के पूर्ण ब्रह्मचर्य-विषयक आदर्श का भी दर्शन नहीं कर पाये हैं। इस विवाह के सम्बन्ध में उन्हें कोई निश्चित मार्ग ही नहीं दिखाई देता।

यहूदी, इस्लामी, लामा-पंथी आदि लोगों में, जो कि ईसाई-धर्म की अपेक्षा कहीं निकृष्ट धर्म-सिद्धान्तों को मानते हैं, और जिनमें विवाह-विषयक वाह्य नियम वर्तमान हैं, पारिवारिक और वैवाहिक निष्ठा ईसाई कहे जाने वालों की अपेक्षा कहीं अधिक मज़बूत है। इन लोगों में दाश्तायें रक्खी जाती हैं, एक पुरुष की कई पत्नियां होती हैं, एक स्त्री के कई पति होते हैं, यह सब होता है। पर इसकी भी उनमें सीमा है। किन्तु हम लोगों में (ईसाइयों में) अधमता की कोई हद ही नहीं। दाश्तायें रक्खी जाती हैं बहु-पत्नीत्व है, बहु-पतित्व है और वह असीम है।

और सबसे भारी आश्चर्य यह है कि एक-पतित्व अथवा एक-पत्नीत्व की ओट में यह सब हो रहा है।

इसका कारण यही है कि ये पादरी लोग केवल धन के लिए उन जुड़े हुये लोगों पर एक ऐसा संस्कार करते हैं, जिसको पादरी-शाही विवाह कहा जाता है। इसलिये कि लोग अपने को धोखा देकर यह खयाल करने लग जायँ कि वे लोग एक-पत्नीव्रत या एक-पतिव्रत का पालन कर रहे हैं।

न तो आज तक कभी ईसाई विवाह हुआ है, और न कभी हो ही सकता है। * ईसाई पूजा, गिरजा के ईसाई शिक्षक या ईसाई पिता, ईसाई जायदाद, ईसाई फ़ौज, ईसाई अदालतें और ईसाई सरकारों का अस्तित्व जिस प्रकार एक असम्भव और अनहोनी बात है, ठीक उसी प्रकार ईसाई विवाह भी एकदम असम्भव ◉ है।

ईसा के बाद की कुछ सदियों में होने वाले ईसाइयों ने इस रहस्य को भली-भांति जान लिया था।

ईसाई-आदर्श तो यह है—ईश्वर और अपने पड़ौसी पर प्यार करो। ईश्वर और अपने पड़ौसी की सेवा के लिए अपना सर्वस्व त्याग दो। वैषयिक प्रेम और विवाह तो आत्म-सेवा—स्वयं अपनी सेवा—है। इसलिए हर हालत में वह ईश्वर और मनुष्य की सेवा के आदर्श का विरोधी है। अतः ईसाई दृष्टि से वह पतन है, पाप है।

---

* मैथ्यू ४, ५–१२, जॉन ४, २१

◉ मैथ्यू २३, ८–१०

विवाह से मनुष्य अथवा ईश्वर की सेवा में कोई सहायता नहीं पहुँचती, यद्यपि विवाह की इच्छा करने वालों का हेतु इससे मानव-समाज की सेवा करना भी हो। विवाह करके नये बच्चों को पैदा करने की अपेक्षा उनके लिए यह कहीं अधिक आसान है कि वे भूखों मरने वाले उन लाखों मनुष्यों को किसी उपयोगी उद्यम में लगा कर बचावें। आध्यात्मिक अन्न की तो बात दूर है पर उनके शारीरिक पोषण के लिए ही अन्न प्राप्त करने में उनकी सहायता करें।

एक सच्चा ईसाई तो विवाह को बिना किसी प्रकार का पाप समझे तभी वैवाहिक बन्धन में अपने को बांध सकता है, जब कि वह यह देख ले कि अभी संसार में जितने भी बच्चे हैं, सबको भर-पेट अन्न मिल रहा है।

मनुष्य ईसा के उपदेशों को मानने से भले ही इन्कार करें; हाँ, भले ही मनुष्य उन सिद्धान्तों को न मानें, जो हमारे जीवन की तह तक पहुँच गये हैं और जिनपर हमारी तमाम नीति निर्भर है; पर यदि एक बार अंगीकार करलें तो इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि वे हमें सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श की ओर ले जा रहे हैं।

बाइबल में यह साफ़-साफ़ शब्दों में कहा है। जिसका ग़लत अर्थ ही नहीं किया जा सकता, कि पहले तो मनुष्य को दूसरी पत्नी करने के लिए अपनी पहली पत्नी को नहीं छोड़ना चाहिए। * दूसरे, पुरुष के

---

* मैथ्यू अध्याय पाँचवाँ वचन २८, २९, ३१, ३२ और अध्याय उन्नीस के वचन ८, १०, १२

लिए सर्वसाधारणतया, वह विवाहित हो या अविवाहित, यह पाप है कि वह स्त्री को अपनी भोग-सामग्री समझे। तीसरे, अविवाहित मनुष्य के लिए अच्छा यही है कि वह कभी शादी न करे, अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करे।

कई लोगों को ये विचार विचित्र और विपरीत मालूम होंगे, और सचमुच यह विपरीत हैं भी। किन्तु अपने ही प्रति नहीं, वे हमारे वर्तमान जीवन-क्रम के एकदम विपरीत हैं। तब अपने-आप एक सवाल खड़ा होता है कि फिर सत्य क्या है? ये विचार, या हम लाखों-करोड़ों का और मेरा भी प्रत्यक्ष जीवन ? ये विचार और भाव उस समय मेरे दिल में बड़े जोरों से उठ रहे थे, जब मैं धीरे-धीरे इन निर्णयों की ओर आकर्षित हो रहा था। मैंने यह कभी खयाल भी न किया था कि मेरे विचार मुझे उन नतीजों पर ले जायँगे, जिनपर कि मैं आ पहुँचा हूँ। इन नतीजों ने तो मुझे चौंका दिया। मैं इनपर विश्वास भी करना नहीं चाहता था। पर यह असम्भव था। हमारे वर्तमान जीवन-क्रम के वे चाहे कितने ही विपरीत हों, स्वयं मेरे पूर्व-जीवन और लाखों से भी वे चाहे बहुत विपरीत हों, परन्तु मैं तो उनपर विश्वास करने के लिए मजबूर हो गया हूँ।

लोग कहेंगे, ये तो सिद्धांत की बातें हैं। यद्यपि वे सच्ची हों, तथापि हैं वे आखिर ईसा के उपदेश। वे उन्हीं लोगों पर लागू हो सकते हैं, जो कहते हैं कि हम उनमें विश्वास करते हैं। पर जीवन कोई खेल नहीं है। यह तो आप पहले ही कह चुके हैं कि ईसा का बताया यह आदर्श अप्राप्य है। फिर भी हम केवल इसी हवाई आदर्श के भरोसे

संसार में लोगों को एक ऐसे वादग्रस्त प्रश्न के बीच धार में नहीं छोड़ सकते, जो कि उन्हें बड़े-बड़े संकटों की ओर ले जा सकती है।

एक जवान भावुक आदमी इस आदर्श के द्वारा पहले भले ही आकर्षित हो जाय, पर वह आख़िर तक नहीं टिक सकता। उसका पतन अवश्यम्भावी है। फिर वह किसी नियम और उपदेश की परवा नहीं करेगा। बस, सीधा नीचे की ओर दौड़ता चला जायगा।

ईसा का आदर्श तो दुष्प्राप्य है। दूर से देखने की चीज़ है। हम उस तक नहीं पहुँच सकते। वह संसार में हमारा हाथ पकड़ कर नहीं ले जा सकता। भले ही हम उसके विषय में खूब लम्बी-चौड़ी बातें करें, अजीब-अजीब स्वप्न देखें; पर यह प्रत्यक्ष जीवन के लिए एकदम निरुपयोगी है, अतएव छोड़ देने योग्य है।

हमें आदर्श की नहीं, मार्गदर्शक की आवश्यकता है, जो हमारी शक्ति का ख़याल कर हमें धीरे-धीरे आगे बढ़ाता हुआ ले चले, जो हमारे समाज की सर्वसाधारण नैतिक अवस्था के अनुकूल हो।

यदि ऐसा है तो पादरीशाही-विवाह या अप्रामाणिक विवाह, जिसमें दोनों में से किसी एक का (हमारे समाज में सामान्यतः पुरुष का) दूसरी औरतों के साथ सम्बन्ध रह चुका हो, सिविल विवाह, अथवा वह विवाह जिसमें तलाक़ की गुञ्जाइश हो, या नियतकाल की सीमा रखने वाला जापानी विवाह, या इससे भी आगे बढ़कर नित्य नूतन विवाह ही क्यों न किया जाय, जो कि कुछ लोगों के ख़याल में खुल्लमखुल्ला रास्ते पर होने वाली अनीति से तो किसी प्रकार अच्छा है।

दिक़्क़त यही है कि अपनी कमजोरी से मेल बैठाने के लिए आदर्श को ढीला करते ही यह नहीं सूझ पड़ता कि कहाँ ठहरा जाय।

पर यह दलील शुरू से ग़लत है। पहले तो यही खयाल ग़लत है कि अनन्त पूर्णता वाला आदर्श जीवन में हमारा मार्गदर्शक नहीं हो सकता। दूसरे यह सोचना भी ग़लत है कि या तो मुझे निराश हो यह कह देना चाहिए, कि आदर्श हद से ज़्यादा ऊँचा है; इसलिए इसे मुझे छोड़ देना चाहिए, या मुझे उस आदर्श को अपनी कमजोरी से मेल बैठाने के लिए नीचे खसकाना चाहिए, क्योंकि अपनी कमज़ोरी के कारण मैं जहां का वहीं रहना चाहता हूँ।

यदि एक जहाज़ का कप्तान कहे कि मैं कम्पास-द्वारा बताई जाने वाली दिशा में नहीं जा सकता, इसलिये मैंउसे उठाकर समुद्र में डाल दूँगा, उसकी तरफ़ देखना ही बन्द कर दूँगा, (अर्थात् आदर्श को क़तई छोड़ दूँगा) या मैं कम्पास की सुई को पकड़ कर उस दिशा में बाँध दूँगा जिधर मेरा जहाज़ जा रहा है (अर्थात् अपनी कमज़ोरी तक आदर्श को नीचे खींच लूँगा), तो निःसन्देह बेवक़ूफ़ कहा जायगा।

ईसा का बताया आदर्श न तो एक स्वप्न है, और न कोई काव्यमय उपदेश। वह तो मनुष्यों को नीतिमय जीवन की ओर ले जाने वाला एक नितान्त आवश्यक मार्गदर्शक है, जो सबके लिये एकसा उपयोगी और प्राप्य है, जैसाकि नाविकों के लिए वह कम्पास होता है। पर नाविक का अपने कम्पास अर्थात् दिशा-दर्शक-यन्त्र में विश्वास करना जितना आवश्यक है उतना ही मनुष्य का इन उपदेशों में विश्वास करना भी है।

मनुष्य चाहे किसी परिस्थिति में क्यों न हो, ईसा के आदर्श का उपदेश उसे यह निश्चित रूप से बताने के लिये सदा उपयोगी होगा कि उस मनुष्य को क्या-क्या बातें करनी चाहिएँ। पर चाहिये उस उपदेश में पूरा विश्वास, अनन्य श्रद्धा। जिस प्रकार जहाज़ का मल्लाह या कप्तान उस कम्पास को छोड़ दायें-बायें आनेवाली और किसी चीज़ का खयाल नहीं करता, उसी प्रकार मनुष्य को भी इन उपदेशों में पूरी श्रद्धा रखनी चाहिये।

मनुष्य को यह जान लेना चाहिये कि ईसा के उपदेशों के अनुसार हमें किस तरह चलना चाहिये और इसके लिये अपनी वर्तमान अवस्था का ज्ञान प्राप्त कर लेना परम आवश्यक है। उपस्थित आदर्श से हम कितनी दूर हैं, यह जानने से मनुष्य को कभी डरना न चाहिए। मनुष्य कहीं भी और किसी भी हालत में हो, वहां से वह बराबर आदर्श की तरफ़ बढ़ सकता है। साथ ही वह कितना ही आगे क्यों न बढ़ जाय, वह कभी यह नहीं कह सकता कि अब मैं ठेठ तक पहुँच गया या अब आगे बढ़ने के लिये कोई मार्ग ही न रहा।

सर्वसाधारणतया ईसाई आदर्श के प्रति और खास कर ब्रह्मचर्य के प्रति मनुष्य की यह वृत्ति होनी चाहिये। एक अत्यन्त निर्दोष बालक से लेकर असंयमी और पतित से पतित विवाहित जीवनवाले मनुष्य की कल्पना कीजिये। और आप देखेंगे कि इन दोनों और दो में से बीच की प्रत्येक सीढ़ी पर खड़े हुए आदमी के लिए ईसाई आदर्श ठीक-ठीक और निश्चित मार्ग का बतानेवाला सिद्ध होगा।

एक पवित्र लड़के या लड़की को क्या करना चाहिए ?

अपने को प्रलोभनों से दूर और पवित्र रखना चाहिये। और ईश्वर और मनुष्य की सेवा पूर्णतया करने के योग्य बनाने के लिये उन्हें चाहिये कि वे अधिकाधिक पवित्र बनने की कोशिश करें, मानसिक पवित्रता को भी प्राप्त करने की कोशिश करें।

वह युवक या युवती क्या करें, जो प्रलोभनों के शिकार बन चुके हैं, जो या तो निरुद्देश प्रेम के चक्र में पड़े हैं या किसी खास व्यक्ति के प्रेम-पाश में बँधकर एक हद तक ईश्वर और मानव-सेवा के आदर्श का पालन करने के अयोग्य हो गये हैं?

वे भी वही करें जो शुद्ध हृदय के युवक युवतियों के लिये कहा गया है। वे अपने को पाप में पड़ने से बचावें पतन उनको प्रलोभन से छुड़ा नहीं सकता, बल्कि वह तो उन्हें प्रलोभनों में और भी जकड़ देगा। उन्हें तो अधिकाधिक पवित्रता की प्राप्ति और रक्षा के लिये यत्न करना चाहिये, जिससे वे ईश्वर और मनुष्य की सेवा के अधिक योग्य बनें।

वे क्या करें, जिन्होंने प्रलोभनों का प्रतिकार नहीं किया और गिर गये हैं?

उनके पतन को जायज़ या आनन्दमय मत समझिये (जैसा कि विवाह संस्कार के बाद आजकल समझा जाता है), न उसे एक नैमित्तिक सुख समझिये, जिसका उपभोग बार-बार किया जा सकता हो। पतन के बाद और किसी नीचे दर्जे के व्यक्ति के साथ सम्बन्ध होनेपर उसे एक विपत्ति भी न समझो। बल्कि इस पहले पतन को एक-मात्र पतन एवं अटूट और सच्चा विवाह-बंधन ही समझो।

यह विवाह-बंधन जिसका फल संतानोत्पत्ति होता है, उन व्यक्तियों को ईश्वर और मनुष्य की सेवा के अधिक परिमित क्षेत्र के बंधन में बाँध देता है। विवाह के पहले वे मनुष्य और ईश्वर की सेवा स्वयं प्रत्यक्ष रूपसे और कई प्रकार से कर सकते थे। विवाह-बंधन उनके कार्यों के क्षेत्र को सीमित कर देता है और उन्हें आदेश करता है कि वे अपने बच्चों के—ईश्वर और मनुष्य के भावी सेवकों के—संवर्धन-शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध करें।

वे विवाहित स्त्री-पुरुष, जो अपने बच्चों के संवर्धन और शिक्षा का काम निबाह कर अपने परिमित क्षेत्र के कर्तव्यों का पालन कर रहे हैं, क्या करें?

वही, जो मैं पहले कह चुका हूँ। दोनों मिलकर अपने आपको प्रलोभनों से बचावें। ईश्वर और मनुष्य की सर्वसाधारण और खास सेवामें रुकावटें डालनेवाले पाप से अपने को बचावें और शुद्ध करें। वैषयिक प्रेम को शुद्ध—भाई बहन के—प्रेम में परिणत करदें।

यह सत्य नहीं कि ईसा के आदर्श के ऊँचे, पूर्ण और दुरूह होने के कारण हमें अपने मार्ग में आगे बढ़ने में कोई सहायता नहीं मिलती। हमें उससे प्रेरणा और स्फूर्ति इसलिए नहीं मिलती कि हम अपने प्रति असत्य आचरण करके अपने आपको धोखा देते हैं। हम अपने आप को समझाते हैं कि हमारे लिये अधिक व्यवहार्य नियमों का होना ज़रूरी है, क्योंकि ऐसा न होने पर हम अपने आदर्श से गिर कर पतित हो जायँगे। इस के स्पष्ट मानी यह नहीं कि ईसा का आदर्श बहुत ऊँचा है, बल्कि हमारा मतलब यह है कि हम उसमें विश्वास ही नहीं

करते और न उसके अनुसार अपने जीवन का नियमन ही करना चाहते हैं।

एक बार गिरने पर यदि हम यह कहें कि हमने जीवन को शिथिल कर दिया है, तो उसके मानी तो यही हैं कि हमने इस बात को पहले से तय कर दिया है कि समाज में हमसे निचली श्रेणी के व्यक्ति के साथ सम्बन्ध होना पाप नहीं, एक दिल-बहलाव का साधन, एक विकार-दर्शन मात्र है, जिसपर हम विवाह की मुहर लगा देना नहीं चाहते। इसके विपरीत यदि हम यह समझ लें कि यह एक पाप है और इसका प्रक्षालन अटूट विवाह-बंधन और तदनुगत बच्चों के पालन-पोषण सम्बन्धी कर्तव्यों की दीक्षा लेने से ही हो सकता है, तब वह पतन हमारे लिए विकार-वर्धक नहीं होगा।

फ़र्ज़ कीजिए कि एक किसान जो अनाज बोना सीखना चाहता है, एक खेत को बुरी तरह बोता है, और उसे छोड़ देता है। दूसरे को, तीसरे को और चौथे को भी इसी तरह बो-बो कर छोड़ देता है और अन्त में जो ज़मीन अच्छी बोई हुई है उसीको अपनी कहने लग जाता है। सोचिए, वह कितना नुक़सान करेगा? वह कभी अच्छी तरह बोना-काटना नहीं सीख सकता। केवल ब्रह्मचर्य को ही आदर्श समझिए। इस आदर्श से जब कभी और जिस किसी के साथ पतन हो, बस, उसी समय उस व्यक्ति के साथ विवाह कर उसे जीवन का साथी बना लिया जाय। तब यह आसानी से समझ में आ जायगा कि ईसा केवल मार्ग-दर्शक ही नहीं बल्कि एक-मात्र मार्ग-दर्शक है।

लोग कहते हैं, मनुष्य स्वभावतः अपूर्ण है। उसे वही काम दिया जाय, जो उसकी शक्ति के अनुसार हो। इसके मानी तो यही हुए कि मेरा हाथ कमज़ोर होने से मैं सीधी रेखा नहीं खींच सकता। इसलिए सीधी रेखा खींचने के लिए मेरे सामने टेढ़ी या टूटी लकीर का ही नमूना रक्खा जाय।

पर बात यह है कि मेरा हाथ जितना ही कमज़ोर हो, बस, उतना ही पूर्ण नमूना मेरे सामने होना आवश्यक है।

ईसा के उस पूर्ण आदर्श का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर हम अज्ञानी की भाँति काम करके बाहरी नियम नहीं बना सकते। ईसाई आदर्श के ज्ञान का उद्घाटन मनुष्य के लिए इसीलिए किया गया कि वह उसकी मौजूदा परिस्थिति में उसके लिए मार्ग-दर्शक हो। मनुष्य-जाति अब बाहरी धार्मिक नियमों के बन्धनों के परे चली गई है। अब उनमें कोई विश्वास नहीं कर सकता।

ईसा के उपदेश ही एक ऐसी चीज़ हैं, जो मनुष्य को मार्ग दिखा सकते हैं। अतः इनके स्थान पर हमें अन्य बाहरी नियम न घड़ने चाहिएँ। हमें तो इसी आदर्श को अपने सामने रखकर उसमें श्रद्धा रखनी चाहिए।

किनारे के नज़दीक से होकर चलनेवाले जहाज़ के लिए यह भले ही कहा जा सकता है कि उस सीधी-ऊँची चट्टान के नज़दीक से होकर चलो, उस अन्तरीप के पास से, उस मीनार के बाँयें होकर चले चलो। पर अब तो हमने ज़मीन को बहुत दूर पीछे छोड़ दिया। अब तो नक्षत्रों और दिशा-दर्शक-यंत्र की सहायता से ही हमें अपना रास्ता ढूँढना होगा और ये दोनों हमारे पास मौजूद हैं।

डायना

'दी क्रूज़र सोनाटा' तथा अन्तिम कथन× के विषय में मुझे कई पत्र मिले हैं। इससे पता चलता है कि स्त्री और पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध में सुधार करने की आवश्यकता को केवल मैं ही नहीं, बल्कि कितने ही विचारशील स्त्री-पुरुष महसूस करते हैं। उनकी आवाज़ उन लोगों के शोरो-गुल में डूब जाती है, जो इसके विपरीत विचार रखते हैं और वर्तमान अवस्था जिनके विकारों के अधिक अनुकूल है। इन पत्रों में एक के साथ, जो मुझे गत ७ अक्तूबर १८९०ई० को मिला, एक छोटी-सी पुस्तिका भी है, जिसका नाम 'डायाना' है।

पत्र इस प्रकार है—

हम लोग आपको 'डायना' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका भेज रहे हैं। स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध पर यह एक ऐसा निबन्ध है, जो मनोविज्ञान और शरीर-विज्ञान के आधार पर लिखा गया है। जबसे आपकी 'दी क्रूज़र सोनाटा' नामक कहानी अमेरिका में प्रकाशित हुई है तब से कई लोग कहते हैं कि 'डायना' उन सब सिद्धान्तों का खुलासा कर देती है, जो टॉल्स्टॉय ने अपनी उपर्युक्त

× टाल्स्टाय की एक कहानी और उसपर लिखे उनके अन्तिम कथन से यहाँ मतलब है।

कहानी में ग्रथित किये हैं। अतः हम यह पुस्तिका आपकी सेवा में इसलिए भेज रहे हैं कि आपही इस बात का स्वयं निर्णय करें कि यह कथन कहाँ तक ठीक है। आपकी हार्दिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

भवदीय

(हस्ताक्षर) दी बर्नस कम्पनी; न्यूयार्क

इसके पहले मुझे फ्रान्स से श्रीमती एन्जाल फ्रेन्काइस का पत्र और उनकी एक पुस्तिका भी मिली थी। उन्होंने अपने पत्र में दो ऐसी संस्थाओं का ज़िक्र किया था, जिनका उद्देश्य है स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध को अधिक पवित्र रूप देना। इनमें से एक संस्था तो फ्रान्स में और दूसरी इंग्लैएड में है। श्रीमती एन्जल फ्रेन्काइस के पत्र में भी वही विचार ग्रथित किये गये हैं, जो 'डायना' में हैं, पर उतनी स्पष्टता के साथ नहीं। हाँ, उनमें कुछ परोक्ष ज्ञानवाद की ज़्यादा झलक है।

'डायना' में जो कल्पनायें और विचार प्रकट किये गये हैं, उनका आधार ईसाई आदर्श पर स्थित नहीं है। मूर्त्ति-पूजक और प्लटो के जीवन-सिद्धान्तों के आधार पर वह लिखी गई है! पर फिर भी उसके विचार इतने नवीन और आनन्द-वर्धक हैं, और हमारे समाज के विवाहित तथा अविवाहित जीवन की वर्त्तमान नैतिक शिथिलता की जड़ में जो अविवेक है उसे इतनी अच्छी तरह प्रकट करते हैं, कि उसे पाठकों के सामने उपस्थित करने को मेरा जी चाहता है।

पुस्तिका पर यह आदर्श-वाक्य लिखा है—"इन दोनों का शरीर एक होगा"। पुस्तिका में ग्रथित विचारों का सार इस तरह है—

स्त्री और पुरुषों में केवल शारीरिक भेद ही नहीं है। अन्य बातों में तथा उनके नैतिक गुणों में भी भेद है। जो पुरुषों में पौरुष और स्त्रियों में रमणीत्व कहे जाते हैं। शारीरिक सम्मिलन के लिए ही नहीं, बल्कि इन भिन्न-भिन्न गुणों के भेद के कारण भी उनमें पारस्परिक आकर्षण होता रहता है। स्त्री, पुरुष की तरफ झुकती है, और पुरुष, स्त्री की ओर आकर्षित होता है। प्रत्येक दूसरे की प्राप्ति द्वारा अपनेको पूर्ण करने की कोशिश करता है। अतः यह आकर्षण शारीरिक तथा आध्यात्मिक सम्मिलन के लिए एकसा झुकाव रखता है। यह झुकाव एक ही शक्ति के दो अङ्ग हैं और वे एक दूसरे के साथ ऐसा सम्बन्ध रखते हैं कि एक अङ्ग की तृप्ति से दूसरा अङ्ग कमज़ोर हो जाता है। यदि आध्यात्मिक आकांक्षा की तृप्ति की ओर ध्यान दिया जाता है तो शारीरिक आकांक्षा कमज़ोर हो जाती है या बिलकुल बुझ जाती है। और उसी प्रकार शारीरिक आकांक्षा की पूर्त्ति आध्यात्मिक आकांक्षा को कमज़ोर या नष्ट कर देती है। अतः यह आकर्षण केवल शारीरिक ही नहीं होता। वह दोनों प्रकार का होता है—शारीरिक और आध्यात्मिक। हाँ, वह पूर्णतया एकदेशीय भी बनाया जा सकता है—पूर्णतया पाशविक अथवा शारीरिक या आध्यात्मिक। इन दोनों के बीच कई सीढ़ियाँ हैं, जिनमें भी उसका प्रादुर्भाव हो सकता है। पर स्त्री-पुरुषों को एक दूसरे की ओर बढ़ते समय किस सीढ़ी पर अपनी गति को रोक देना चाहिए? यह तो उनके व्यक्तिगत विचारों पर निर्भर है। वे जिस सीढ़ी को उचित, अच्छी और वांछनीय समझें वहीं ठहर सकते हैं। यह संभव है या नहीं, इसका यदि निराकरण करना हो तो हमें छोटे

रूस की उस रूढ़ि को देखना चाहिए, जिसमें विवाह के लिए चुने हुए जवान लड़के-लड़की बरसों तक साथ रक्खे जाते हैं और फिर भी वे अपने कौमार्य का भङ्ग नहीं करते।

स्त्री और पुरुष प्रायः उसी सीढ़ी पर आनन्द मानते हैं, जिसे वे अच्छी, उचित और वांछनीय समझते हैं। ये सीढ़ियां स्पष्ट ही प्रत्येक मनुष्य के लिए भिन्न-भिन्न होंगी। पर सवाल यह है कि पारस्परिक सम्मिलन की कोई ऐसी एक सीढ़ी भी हो सकती है, जिसको प्राप्त करने पर सभी एकसे और ज्यादा से ज्यादा सन्तोष को प्राप्त कर सकें—चाहे शारीरिक सम्मिलन हो, या आध्यात्मिक ? इसका उत्तर तो साफ़ और स्पष्ट है। पर वह हमारी सामाजिक धारणा के विपरीत है। उत्तर यह कि वह सीढ़ी शारीरिक अथवा इन्द्रिय-जन्य आनन्द के जितनी ही नज़दीक होगी उतनी ही वासना बढ़ेगी और वासना जितनी ही अधिक बढ़ेगी हम सन्तोष से उतने ही दूर हटते जायँगे।

इसके विपरीत हम जितने ही अतीन्द्रिय (आध्यात्मिक) सुख की ओर बढ़ेंगे उतनी ही वासना नष्ट होगी और हमारा समाधान भी स्थायी होगा। वह सन्तोष होगा। इन्द्रिय-सुख जीवन-शक्ति के लिए विनाशक और अतीन्द्रिय सुख शान्ति, आनन्द और बल का बढ़ाने वाला है।×

पुस्तक का लेखक स्त्री-पुरुषों के सम्मिलन को मानव-जीवन के उच्च विश्वास की एक आवश्यक शर्त मानता है। लेखक का खयाल है कि विवाह उन तमाम परिणत वय के स्त्री-पुरुषों के लिए एक प्राकृतिक अवस्था है। यह कोई अनिवार्य नहीं कि उनका शारीरिक सम्बन्ध

× सुखमात्यंतिकं यत्तद् बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम्। — गीता।

होना ज़रूरी है। पर वह सम्मिलन केवल आध्यात्मिक भी हो सकता है। विवाहेच्छु स्त्री-पुरुषों की वृत्ति और प्रवृत्ति तथा योग्यायोग्यता के विवेक के अनुसार विवाह या तो शारीरिक या आध्यात्मिक सम्मिलन के नज़दीक पहुँच सकता है। पर यह तो निःसन्देह समझिए कि वह सम्मिलन जितना ही अधिक आध्यात्मिक होगा उतना ही अधिक सन्तोष देने वाला होगा।

लेखक इस बात को स्वीकार करते हैं कि स्त्री-पुरुषों का पारस्परिक आकर्षण या तो पूर्णतया आध्यात्मिक ही हो सकता है या वैष-यिक—शारीरिक। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि स्त्री-पुरुष इसे अपनी इच्छानुसार आध्यात्मिक या वैषयिक क्षेत्र में ले जाने की शक्ति भी रखते हैं। इससे स्पष्ट है कि वे ब्रह्मचर्य की असंभावना को क़बूल नहीं करते। बल्कि वे तो उसे विवाह के पहले और बाद में स्त्री पुरुषों के स्वास्थ्य के ख़याल से अत्यन्त आवश्यक भी मानते हैं।

लेख में उदाहरणों की भरमार है, जो उसकी मुख्य दलील को शरीर-शास्त्र के जननेन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओं के प्रमाणों द्वारा मज़बूत करते हैं। वे उनके शारीरिक आघात-प्रत्याघात का स्पष्ट रूप से वर्णन करते हैं। लेख में इस बात का भी खूब विचार किया गया है कि मनुष्य अपनी इन वैषयिक वृत्तियों पर प्रभुत्व प्रस्थापन कर कहाँ तक उनको दूसरी धारा में छोड़ सकता है? अपने विचारों की मज़बूती साबित करते हुए वे हरबर्ट स्पेन्सर के इन शब्दों को उद्धृत करते हैं कि "यदि एक नियम मनुष्य के लिए सचमुच कल्याणकर है, तो मनुष्य-स्वभाव अवश्यमेव उसके सामने अपना सिर झुका लेगा,

जिससे उसका पालन मनुष्य के लिए आनन्ददायक हो जायगा।" लेखक बाद में कहते हैं कि इसलिए हमें वर्तमान प्रचलित रूढ़ियों पर इतना अवलंबित नहीं रहना चाहिए। हमें तो उस स्थिति का ख़याल करना चाहिए, जिसे मनुष्य उज्ज्वल भविष्य में प्राप्त करने जा रहा है।

लेखक अपने तमाम वक्तव्य को इस तरह संक्षेप में प्रदर्शित करते हैं। 'डायना' में वर्णित सिद्धान्त थोड़े में यह हैं कि स्त्री-पुरुषों के बीच दो प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है। एक तो शुद्ध प्रेममय और दूसरा सन्तति के लिए। यदि सन्तति की इच्छा न हो तो यही अच्छा है कि वैषयिक प्रेम को शुद्ध सात्विक प्रेम में परिणत कर दिया जाय। उपर्युक्त सिद्धान्तों पर जब विवेक-पूर्वक विचार किया जायगा, तब मनुष्य की वैषयिकता अपने आप कम हो जायगी। साथ ही संयम के लिए पोषक आदतें भी साथ-साथ बनाना शुरू कर दिया जाय, तो मनुष्य कई दुःखों और कष्टों से बच जायगा और उसकी आकांक्षायें भी शान्त हो जायँगी।

पुस्तिका के अन्त में एलिज़ा बर्नस का, माता-पिता और शिक्षकों के नाम एक उत्कृष्ट पत्र दिया गया है। इस पत्र में ऐसे प्रश्न पर विचार किया गया है, जो ज़रा बे-परदा है। पर वह उन असंख्य युवक और युवतियों के लिए वास्तव में बड़ा उपयोगी और कल्याण प्रद है, जो नाना प्रकार के विकारों के पंजे में पड़ कर अपने जीवन को बरबाद कर रहे हैं—जो अज्ञानवश अपनी उत्कृष्ट शक्तियों को प्रतिदिन व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं।

———

विविध-पत्र

[दिनचर्या आदि से]

विषयोपभोग के विषय में, 'दी क्रूज़र सोनाटा' के अन्तिम कथन में, मैं अपने विचार पहले ही लिख चुका हूँ। वह तमाम प्रश्न एक शब्द में यों कहा जा सकता है—ईसा और उसके बाद पॉल के उपदेश के अनुसार मनुष्य को हमेशा, हर परिस्थिति में, विवाहित तथा अविवाहित जीवन में, अपनी शक्ति भर ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। स्त्री-विषयक ज्ञान से यदि वह अपने को बिल्कुल अछूता रख सके तब तो वह सर्वोत्कृष्ट बात होगी। यदि वह यह न कर सके तो यह कोशिश करे कि अपनी कमज़ोरी के अधीन कम से कम हो। विषयोपभोग में कभी आनन्द न ले। मेरा ख़याल है कि कोई सच्चा और गम्भीर पुरुष इस प्रश्न को दूसरी तरह नहीं सोचेगा। सभी इससे सहमत होंगे।

*　　*　　*

'एडल्ट' के सम्पादक का 'स्वतंत्र प्रेम' के विषय में फिर एक पत्र मिला। समय होता तो मैं इसपर कुछ लिखना चाहता था। शायद लिखूँ भी। सबसे पहले उन्हें बिना किसी प्रकार के परिणाम का विचार किये अधिक से अधिक आनन्द की प्राप्ति का आश्वासन अपने-आपको दिला देना चाहिए। अलावा इसके, वे एक ऐसी बात के अस्तित्व का प्रचार करते हैं, जो पहले से मौजूद है और बहुत

खराब है। क़ानून-रचना के तो मैं ख़िलाफ़ ही हूँ। मैं तो पूर्ण स्वाधीनता चाहता हूँ। पर हमारा आदर्श ब्रह्मचर्य हो, न कि विषय-सुख।

* * *

स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध से, इस 'प्रेम' करने से, जो अनेक आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं उनका कारण यही है कि हम कई बार वैषयिक प्रेम को आध्यात्मिक जीवन और शुद्ध प्रेम समझने की भयङ्कर ग़लती कर बैठते हैं। दूसरे, हम अपनी बुद्धि का उपयोग इस विकार को धिक्कारने या रोकने के लिए नहीं, बल्कि आध्यात्मिकता रूपी मोर के पङ्खों से सुशोभित करने के लिए करते हैं।

* * *

यह ऐसी जगह है, जहाँ दोनों छोर मिलते हैं। स्त्री और पुरुषों के बीच के प्रत्येक आकर्षण को विषय लालसा कहना भारी जड़ता होगी। पर यह अधिक से अधिक आध्यात्मिक दृष्टि है। यदि प्रेम को हम अच्छी तरह समझना चाहते हैं तो हमें उसमें से उन तमाम बाहरी बातों को निकाल डालना चाहिए जो आध्यात्मिक न हों। तभी हम उसके शुद्ध स्वरूप या यथार्थ स्वरूप को पहचान सकेंगे।

* * *

संसार की भारी से भारी आपदाओं की जड़ है विषय-वासना। पर हम इसे दबाने और रोकने की कोशिश कभी नहीं करते। उलटा हर प्रकार से उसमें घी डालकर उस आग को प्रज्वलित ही करने की कोशिश करते हैं। और अंत में शिकायत भी करते हैं कि हमपर आपत्तियाँ उमड़ रही हैं, हमें दुःख हो रहा है।

केवल शारीरिक सुख की इच्छा से अनेक व्यक्तियों के साथ विषयोपभोग करने से मनुष्य विलासी बन जाता है। विलासिता क्या है? स्त्री अथवा पुरुष में विलासिता वह अशान्तिपूर्ण अवस्था है, जिसमें वह उत्सुकतावश एक शराबी की तरह नित्य नवीनता को खोजता फिरता है या खोजती फिरती है। व्यभिचारी, विलासी व्यक्ति अपने को एक बार रोक सकता है, पर शराब-ख़ोर कभी नहीं रोक सकता। शराबख़ोर शराबख़ोर है और व्यभिचारी व्यभिचारी। दोनों में फ़र्क़ नाम-मात्र को है। थोड़ी-सी भी शिथिलता आने पर विलासी अधम व्यभिचारी बन जाता है।

* * *

प्रलोभन के साथ झगड़ते समय हम कई बार पहले ही से अपनी विजय की रोचक कल्पना में तल्लीन हो जाते हैं यह एक भारी कमज़ोरी है। ऐसे काम में हम लग जाते हैं जो हमारी शक्ति से बाहर है, जिसका पूरा करना न करना हमारी शक्ति के अन्दर की बात नहीं। पादरियों की तरह हम पहले ही से अपने-आप से कहने लग जाते हैं, "मैं ब्रह्मचर्य के पालन की प्रतिज्ञा करता हूँ।" इस ब्रह्मचर्य से हमारा इशारा होता है बाहरी ब्रह्मचर्य की ओर। पर यह असम्भव है। क्योंकि पहले तो हम इस बात की कल्पना नहीं कर सकते कि हमें आगे चल कर किन-किन परिस्थतियों में से गुजरना होगा। संभव है, हमें ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़े, जिसमें प्रलोभन का प्रतिकार करना हमारे लिए असम्भव हो। दूसरे, इस तरह की एकाएक प्रतिज्ञा करने से हमें अपने उद्देश की ओर—सर्वोच्च ब्रह्मचर्य के निकट—जाने में

कोई सहायता नहीं मिलती; उलटे, भीतर कमजोरी रह जाने के कारण, हमारा पतन अलबत्ता शीघ्र होता है।

पहले तो लोग बाहरी ब्रह्मचर्य को ही अपना उद्देश मान लेते हैं। फिर या तो वे संसार को छोड़ देते हैं या स्त्रियों से दूर-दूर भागते फिरते हैं। आर्फां के पादरी ऐसा ही करते थे। इतने पर भी जब काम-वासना से पिण्ड नहीं छूटता तब अपनी इन्द्रिय को ही काट डालते थे। पर इन सबसे महत्वपूर्ण बात की तरफ उनका ध्यान नहीं जाता था। वासना शरीर का धर्म तो है नहीं। यह तो एक मानसिक वस्तु है। वैषयिकता से बचने के लिए विचार-शुद्धि परमावश्यक है। प्रलोभनों के सामने आने पर जो विकारोद्भव होता है, अन्तर्युद्ध ही उसका उपाय है।

इन्द्रिय-विनाश करना तो उसी सिपाही की बात का सा काम है, जो कहता है कि मैं युद्ध पर जाऊँगा, पर तभी, जब मुझे आप यह यकीन दिला दो कि निश्चय ही मेरी विजय होगी। ऐसा सिपाही सच्चे शत्रुओं से तो दूर ही दूर भागेगा, पर काल्पनिक शत्रुओं से अलबत्ता लड़ेगा। वह कभी युद्ध-कला सीख ही नहीं सकता। उसकी पराजय ही होगी।

दूसरे केवल बाहरी ब्रह्मचर्य को यह समझ कर आदर्श मान लेना ग़लत है कि हम कभी तो जरूर उस तक पहुँच जायँगे। क्योंकि ऐसा करने से प्रत्येक प्रलोभन और प्रत्येक पतन उसकी आशाओं को एक-दम नष्ट कर देता है और फिर इस बात पर से भी उसका विश्वास उठने लग जाता है कि ब्रह्मचर्य का आदर्श कभी सम्भवनीय या

युक्तिसंगत भी है या नहीं। वह कहने लग जाता है कि ब्रह्मचारी रहना असम्भव है और मैंने अपने सामने एक ग़लत आदर्श को रख छोड़ा है। फिर वह एकदम इतना शिथिल हो जाता है कि अपने को पूरी तरह भोग-विलासों के अधीन कर देता है। यह तो उस योद्धा के समान हुआ, जो युद्ध में विजय प्राप्त करने की इच्छा से अपने बाहु पर गुप्त शक्ति वाला तावीज़ बाँध लेता है और आँखें मूँद कर विश्वास करता है कि वह तावीज़ युद्ध में उसकी रक्षा करता है। पर ज्यों ही उसे तलवार का एकाध वार लगा नहीं कि उसका सारा धैर्य और पौरुष भगा नहीं। हम अपूर्ण मनुष्य तो यही निश्चय कर सकते हैं कि अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार, अपनी भूत और वर्तमान अवस्था तथा चारित्र्य का खयाल कर, अधिक से अधिक पवित्र ब्रह्मचर्य का हम पालन करें।

दूसरे, हम इस बात का कभी खयाल न करें कि हम किसी काम को मनुष्यों की दृष्टि में ऊँचा उठने के लिए कर रहे हैं। हमारे न्याय-कर्ता मनुष्य नहीं, हमारी अन्तरात्मा और परमेश्वर हैं। फिर हमारी प्रगति में कोई बाधक नहीं हो सकता। तब प्रलोभन हमपर कोई असर नहीं कर सकेंगे और प्रत्येक वस्तु हमें उस सर्वोच्च आदर्श की ओर बढ़ने में सहायक होगी। पशुता को छोड़ हम नारायण-पद की ओर बढ़ते जायँगे।

* * *

ईसाई नीति जीवन के रूपों और आकारों का वर्णन नहीं करती; बल्कि मनुष्य के प्रत्येक कार्य के लिए वह तो एक आदर्श, दिशा बत-

लाती है। इसी प्रकार स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध के विषय में भी वह एक आदर्श आपके सम्मुख उपस्थित करती है। पर ईसाई-धर्म के विपरीत कल्पना रखने वाले लोग तो नाम-रूप को ढूँढते फिरते हैं। पादरीशाही विवाहों में ईसाईपन नाम-मात्र को भी नहीं, वह तो उन्हींका आविष्कार है। विषयोपभोग, हिंसा तथा क्रोध—इनके विषय में हमें न तो अपने आदर्श को नीचा करना चाहिए और न कोई तोड़-मरोड़ ही करनी चाहिए। पर पादरी लोगों ने यही कर डाला है।

* * *

ईसा के धर्म को अच्छी तरह न समझ पाने के कारण ही ईसाई और गैर-ईसाई ये दो भेद उनमें हो गये हैं। सबसे स्थूल भेद वह है, जो कहता है कि बप्तिस्मा किये हुए मनुष्यों को ईसाई समझो। ईसा के उपदेशों के अनुसार जो शुद्ध पारिवारिक जीवन व्यतीत करता है, जो अहिंसा का पालन करता है, वह ईसाई है और इसके विपरीत आचरण करनेवाला ईसाई नहीं। पर ऐसा कहना भी ग़लत है। ईसाई-धर्म के अनुसार ईसाई और ग़ैर ईसाई के बीच कहीं लकीर नहीं खींच सकते। एक तरफ़ प्रकाश है—ईसा, दूसरी ओर अन्धकार है—पशु। बस, इस मार्ग पर ईसा के नाम पर ईसा की ओर बढ़ो।

स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों के विषय में भी यही बात है। सम्पूर्ण शुद्ध ब्रह्मचर्य आदर्श है। परमात्मा की सेवा करने वाला विवाह की उतनी ही इच्छा करेगा, जितनी शराब पीने की। पर शुद्ध ब्रह्मचर्य के राजमार्ग में कई मञ्ज़िलें हैं। यदि कोई पूछे कि हम विवाह करें या नहीं, तो उसे केवल यही उत्तर दिया जा सकता है कि यदि आपको ब्रह्मचर्य के

आदर्श का दर्शन नहीं हो पाया है तो ख्वामख्वाह उसके सामने अपना सिर न झुकाओ। हाँ, वैवाहिक जीवन में विषयों का उपभोग करते हुए धीरे-धीरे उस आदर्श की ओर बढ़ो। यदि मैं ऊँचा हूँ और दूर की एक इमारत को देख सकता हूँ और मुझसे छोटे कदवाला मेरा साथी उसे नहीं देख पाता, तो मैं उसे उसी दिशा में कोई नजदीक वाली वस्तु दिखा कर उद्दिष्ट स्थान की कल्पना कराऊँगा। उसी प्रकार जो लोग सुदूरवर्त्ती ब्रह्मचर्य के आदर्श को नहीं देख पाते उनके लिए प्रामाणिक विवाह उस दिशा की एक नज़दीकी मंजिल है। पर यह मेरी और आपकी बताई मंजिल है। स्वयं ईसा तो सिवा ब्रह्मचर्य के और किसी आदर्श को न तो बता सकता था और न उसने बताया ही है।

* * *

संघर्ष जीवनमय और जीवन संघर्षमय है। विश्रान्ति का नाम भी न लीजिए। आदर्श हमेशा सामने खड़ा है। मुझे तबतक शान्ति नसीब नहीं हो सकती, जबतंक मैं उस आदर्श को प्राप्त नहीं कर लेता। पर मैं उसकी तरफ़ एकसा नहीं बढ़ता रहता।

उदाहरण के लिए ब्रह्मचर्य को लीजिए। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में जिस प्रकार अकाल-पीड़ितों को एक बार या अनेक बार भोजन करा देने से उनके पेट का सवाल हल नहीं होता, उसी प्रकार शारीरिक विषयोपभोग से मनुष्य को कभी संतोष नहीं होता। फिर सन्तोष कैसे होगा? ब्रह्मचर्य के आदर्श की संपूर्ण भव्यता को भली-भाँति समझ लेने से, अपनी कमज़ोरी पूर्णतया स्पष्ट रूप से देख लेने से, और उसे दूर कर उस उच्च आदर्श की ओर बढ़ने का निश्चय करने से। बस,

केवल इसी तरह सन्तोष हो सकता है। अपने-आपको ऐसी परिस्थिति में रखकर हमें कभी सन्तोष नहीं होगा, जिसमें हम अपनी आँखें बन्द कर आदर्श के आदेशों और हमारे जीवन के बीच वाले भेद को देखने से इन्कार करदें।

* * *

विषय-बाण के आक्रमण अत्यन्त विषम होते हैं। बाल्यावस्था और दूरवर्ती वृद्धावस्था ही ऐसी अवस्थायें हैं, जो उसकी (विषय की) आक्रमण-कक्षा से निरापद हैं। इसलिए उसके साथ युद्ध करते हुए मनुष्य को कभी निराश न होना चाहिए; न कभी युवावस्था में ऐसी अवस्था में पहुँचने की आशा करनी चाहिए जिसमें वह मन्मथ (विषय) के आक्रमणों से बच कर शान्ति से रह सके। एक क्षण भर के लिए भी मनुष्य कमज़ोरी को अपने पास न फटकने दे। पर शत्रु को निःशस्त्र करनेवाले तमाम उपायों की खोज और योजना हमेशा एकसा करता रहे। चित्त में विकारों को उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को टालते रहो। सदा कार्यमग्न रहो। यह एक रास्ता हुआ। दूसरा रास्ता यह है कि यदि आप विकार को अपने अधीन नहीं कर सकते तो विवाह कर लो, अर्थात् ऐसी स्त्री कों ढूँढ लो जो विवाह करने पर राज़ी हो। अपने आपसे कहो कि यदि मैं पतन से अपने आपको बचा नहीं सकता, यदि पतन अनिवार्य है तो वह केवल इसी स्त्री के साथ होगा।

* * *

यदि आपको कोई सन्तान हो तो दोनों मिल कर उसे सुशिक्षित कीजिए। और दोनों मिलकर ब्रह्मचारी रहने की कोशिश कीजिए।

विकार से जितनी जल्दी मुक्त हो सकें, उतना ही भला है। बस, अलावा इसके, मैं और कोई उपाय नहीं जानता ! हाँ, इन दोनों उपायों का सफलता पूर्वक उपयोग करने के लिए ईश्वर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कीजिए। हमेशा इस बात को याद रखिए कि आप वहाँ से (ईश्वर के घर से) आये हैं और वहीं वापस भी जाना है। इस जीवन का उद्देश और अर्थ यही है कि हम उसकी मंशा को पूरा करें।

आप जितनी उसकी (परमेश्वर की) याद करेंगे उतना ही वह आप की सहायता करेगा।

एक बात और है। यदि कहीं आपका पतन हो जाय तो हिम्मत न हारिएगा। यह न सोचिएगा कि अब तो दीन-दुनिया से गये। यह खयाल न कीजिएगा कि अब सावधान रहने से क्या फ़ायदा ? यदि आप गिर गये हैं, तो उठकर और भी अधिक बल के साथ युद्ध छेड़ दीजिए।

काम मनुष्य को अंधा कर देता है, उसकी विचार-शक्ति को मूर्छित कर देता है। सारा संसार अंधकारमय हो जाता है। मनुष्य उसके साथ के अपने सम्बन्ध को भूल जाता है।

संयोग ! कालिमा !! असफलता !!!

शिव शिव ! इस भयंकर विकार को ग्रहण करके तुमने बहुत कष्ट उठाया, बहुत दुख सहा ! मैं जानता हूँ कि यह किस तरह प्रत्येक वस्तु को छिपा देता है। हृदय और विवेक को क्षण भर के लिए किस तरह संज्ञाहीन कर देता है। पर इससे मुक्ति पाने का एक ही उपाय है। निश्चयपूर्वक समझ लो कि यह एक स्वप्न है, एक संमोहनास्त्र है, जो

आता है और निकल जाता है और तुम थोड़ी ही देर में अपनी पूर्व स्थिति को पहुँच जाओगे। विकार की आँधी जब अपने ज़ोरों में होगी तब भी तुम इस बात को समझ सकोगे। परमात्मा तुम्हारी सहायता करें!

इस बात को कभी न भूल कि तू न तो कभी पूर्णतः ब्रह्मचारी रहा है और न रह सकता है। हां, तू उसके नज़दीक ज़रूर पहुँच सकता है और तुझे इस प्रयत्न में कभी निराश न होना चाहिए। प्रलोभन के सामने और पतन की डाढ़ों में पहुँच जाने पर भी अपने आदर्श को न भूलना, और न भूलना इस बात को कि, तू यहां से भी अछूता रह-कर भाग सकता है। अपने दिल से कह कि मैं गिर रहा हूँ पर मैं पतन से घृणा करता हूँ। मैं जानता हूँ कि इस समय नहीं, तो अगली बार ज़रूर मेरी विजय होगी।

* * * * *

संपूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं, पर इसके अधिक-से-अधिक नज़दीक पहुँचने के उद्देश से आप प्रयत्न शुरू कीजिए। संपूर्ण ब्रह्मचर्य तो एक आदर्श-सृष्टि की वस्तु है। शरीरधारी मनुष्य उसे कभी प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो केवल उस तरफ़ बढ़ने का प्रयत्न मात्र कर सकता है क्योंकि वह ब्रह्मचारी नहीं विकारपूर्ण है। यदि आदमी विकारपूर्ण नहीं होता तो उसके लिए न तो ब्रह्मचर्य के आदर्श की और न उसकी कल्पना ही की आवश्यकता होती। ग़लती तो यह है कि मनुष्य अपने सामने संपूर्ण (बाह्य—शारीरिक) ब्रह्मचर्य का आदर्श रखता है, न कि उसके लिए प्रयत्न करने का। प्रयत्न में एक बात गृहीत समझी जाती है—यह

कि हर हालत में और हमेशा ब्रह्मचर्य विकारवशता से श्रेष्ठ है। सदा अधिकाधिक पवित्रता को प्राप्त करना मनुष्य का धर्म है।

यह भेद बड़ा महत्वपूर्ण है। बाहरी ब्रह्मचर्य को आदर्श समझने वाले के लिए पतन या ग़लती सर्वनाशक होती है। एक बार की ग़लती भी पुनः प्रयत्न करने से उसे निराश कर देती है। प्रयत्नवादी के लिए पतन हई नहीं। निराशा उसके पास भी नहीं फटकती। विघ्न-बाधायें उसके प्रयत्न को रोकती नहीं बल्कि उसे और भी प्रबल प्रयत्न के लिए प्रेरणा करती हैं।

* * * * *

जब मनुष्य केवल स्वार्थी होता है, अपने व्यक्तिगत आनन्द को छोड़ कर और किसी श्रेष्ठ बात को जानता ही नहीं, तब भले ही उसके लिए प्रेम—एक स्त्री को प्रेम करना—उन्नतिकर प्रतीत हो। पर जिस मनुष्य ने एक बार परमात्मा की भक्ति का दर्शन कर लिया है, जो अपने पड़ोसी को अपने ही जैसा प्यार करने की कला को थोड़े से अंशों में भी जान गया है, वह तो ज़रूर ही उस वैषयिक प्रेम को एक ऐसी वस्तु समझेगा जिससे छुट्टी पाने की कोशिश करना ही श्रेयस्कर है और तुम भी इस ईसाई भाईपन की मुहब्बत से क्यों न संतुष्ट रह सकते हो? क्षमा करना, तुम्हारा यह कहना ग़लत है, स्त्री-जाति का अपमान है, कि उसके विषय के प्रेम के कारण तुम अपनी पवित्रता की रक्षा नहीं कर सकते हो। प्रत्येक मनुष्यप्राणी और ख़ासकर सच्चा ईसाई चाहता है कि वह शारीरिक नहीं, आध्यात्मिक शक्ति का माध्यम हो। अपनी पवित्रता की रक्षा तुम अपनी ही शक्ति से करो और उस बहन को केवल अपना

निःस्वार्थ, निर्विकार प्रेम अर्पण करो। परमात्मा के सिंहासन पर मनुष्य को न बैठाओ। विश्वास रक्खो, वह अनन्त शक्ति (ईश्वर) तुम्हें इतना अधिक बल देगी कि तुम जिसकी आशा भी नहीं कर सकते। हां, और इसके अतिरिक्त उस बहन का निर्मल प्रेम भी तुम्हें बल देगा।

तुम लिखते हो कि तुम्हारे प्रेम से उसकी रक्षा की जाय। मैं नहीं समझा, तुम्हारा मतलब किससे है ? मैं यह भी नहीं समझ सका कि तुम्हें उसकी क्यों और किस कारण इतनी दया आती है ? हम लोगों में यह एक रिवाज़-सा हो गया है कि पुरुष किसी न किसी अनोखे ढङ्ग से शादी करना चाहते हैं।

"यदि मनुष्य निर्मल और निर्विकार प्रेम कर सकता है तो पहले वह ऐसा ही शुद्ध प्रेम करे।" यदि यह उससे न हो सके तो शादी कर ले। यही ईसा ने कहा है और पॉल ने इसका समर्थन किया है। हमारी बुद्धि भी इसी बात को कहती है और आदमी किसी नये ढङ्ग से शादी कर ही नहीं सकता। जैसा कि संसार अब तक करता आया है वैसा ही उसे भी करना चाहिए। अर्थात् पहले वह अपना एक साथी ढूंढ़ ले; उसके प्रति सच्चा रहने का निश्चय करले और मृत्यु तक कभी उसे न छोड़े। साथ ही उसकी सहायता से विनष्ट ब्रह्मचर्य को पुनः प्राप्त करने की कोशिश करे। भले ही हम सामाजिक या धार्मिक रीति-रिवाजों को न मानें; पर फिर भी हम विवाह को संसार के विपरीत किसी दृष्टिकोण से नहीं देख सकते।

विवाह तो स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक आकर्षण का स्वाभाविक फल है और यही रहेगा भी। विवाह में यदि कहीं इस हार्दिक और पारस्परिक प्रेम का अभाव है तो वह एक बुरी चीज़ है।

मेरा खयाल है, मैं तुम दोनों को अच्छी तरह समझ गया हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे बीच में जो कुछ भी दुःख और अशान्ति का कारण है उसे निकाल डालूं और तुम्हारे जीवन को आनन्दमय बना दूं। उसका यह कथन सत्य है कि स्त्री पुरुषों के बीच का अनन्य प्रेम, भक्ति का पोषक नहीं बाधक है। पर इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि तुम उसपर ऐसा ही अनन्य प्रेम करते हो। यह स्वाभाविक भी है। यह तो मनुष्य के शरीर और स्वभाव का दोष है। पर इस बात को स्वीकार करते हुए हमें केवल उन्हीं बातों को ग्रहण करना चाहिए जो फ़ायदेमन्द हों और अच्छी हों। और तमाम बुरी बातों को छोड़ देना चाहिए। यह भाव भला है कि हमारे प्रेम का पात्र सुन्दर है, प्रेम करने योग्य है। मनुष्य स्वार्थवश प्यार नहीं करता। परमात्मा ही के आदेश को पूरा करने में, एक दूसरे की सहायता करने ही के लिए प्यार करता है। यह तो एक आनन्द की वस्तु है। पर इसके पहले हमें उस प्यार को वैषयिकता के विष से मुक्त कर लेना ज़रूरी है। कभी-कभी यही हमें निर्विकार दिखाई देने लगता है। ईर्ष्या इसका चिन्ह है। और भी कितने ही सुन्दर-सुन्दर रूप धारणकर, यह हमारे सामने आता है। मैं तो तुम्हें यही असली सलाह दूंगा कि अपने विकारों पर कभी विचार न करो, उनको एक दूसरे के प्रति प्रकट भी न करो (यह छल नहीं, संयम है) अपने प्रेमपात्र को हमेशा अपने जीवन-कार्य के विषय में लिखो, जिसमें वह तुम्हारा साथी हो। एक दूसरे पर प्यार करने के विषय में लिखने की कोई आवश्यकता ही नहीं। यह तो तुम भी जानते हो और वह भी, इसलिए अपने तमाम कार्यों और शब्दों का हेतु भी

तुम जानते हो। अपने प्रेमपात्र के प्रति अपने हृद्‌गत भावों को प्रकट करने की भी सीमा होती है। समझदार आदमी को चाहिए कि उसका उल्लंघन न करे। तुमने उसका उल्लंघन कर डाला है। इस सीमा को लांघकर जो कुछ भी भाव प्रकाशित किया जाता है वह निरानन्द और भार-सा हो जाता है।

परमात्मा ने तुम्हें प्रेम दिया है। उससे सच्चा लाभ उठाओ। विशुद्ध प्रेम का पहले अर्थ समझ लो। सच्चा प्रेम स्वार्थी नहीं होता। वह अपने विषय में नहीं सोचता। सदा अपने प्रेमपात्र के कल्याण के विषय में सोचता रहता है। ज्योंही हमारा प्रेम यह विशुद्ध स्वरूप धारण कर लेता है ज्योंही उसकी अंतर्गत दुःखद वेदना नष्ट हो जाती है। वह केवल आनन्दमय हो जाता है।

प्रेम कभी हानिकर नहीं होता। हाँ, यदि वह बकरी के रूप में अहंकार का भेड़िया न हो बल्कि सच्चा प्रेम हो तो। एक कसौटी तुम्हें बतला देता हूँ। अपने प्रेम को जाँचने के लिए मनुष्य ज़रा अपने दिल से यह सवाल पूछ ले "मेरे प्रेमपात्र के भले के लिए मैं उसे छोड़ने के लिए तैयार हूँ, उससे सम्बन्ध त्यागने के लिए उद्यत हूँ? मेरी यह तैयारी है कि मैं उसे कभी न देख पाऊँ तो मेरा दिल ज़रा भी न छटपटाए?" यदि मेरी यह तैयारी हो तब तो ज़रूर वह शुद्ध है, निरपेक्ष है। किन्तु यदि इसमें हमारे दिल को ज़रा भी पीड़ा हो, एक अंध आकांक्षा हो, थोड़ी भी चिन्ता हो तो समझ लीजिए कि वह स्वार्थ से कलंकित है, वह वही भेड़िया है जिसे मार डालना श्रेयस्कर है। मैं जानता हूँ कि तुम भावुक हो, धर्मशील हो। मुझे विश्वास है कि यदि तुम्हें

यह भेड़िया किसी भी रूप में दिखाई दे तो तुम ज़रूर उसे मार डालोगे।

हाँ, सब मनुष्यों को आदमी एक सा प्यार नहीं कर सकता। अक्सर एक ही व्यक्ति को प्यार करने में असीम सुख का अनुभव होता है। पर स्मरण रहे, यह प्यार उसके प्रति हो न कि अपने इन विकारों से सम्बन्ध रखनेवाले आनन्दानुभाव के प्रति।

* * *

मैंने इस 'प्रेम' के विषय में बहुत विचार और मनन किया; किन्तु मुझे मानव-जीवन के लिए इसका कोई अर्थ न दिखाई दिया, न मैं इसके लिए कोई स्थान ही क़ायम कर सका। पर फिर भी उसका अर्थ और उसका स्थान अत्यन्त स्पष्ट और निश्चित है। विलास और ब्रह्मचर्य के बीच जो संघर्ष चल रहा है, उसे सौम्य करने में इसका उपयोग होता है। विषय-लालसा के मुक़ाबले में जो युवक और युवतियाँ अपने को कमज़ोर पावें, वे अपने जीवन के अत्यन्त नाज़ुक समय में सोलह से लगाकर बीस वर्ष की अवस्था तक अटूट वैवाहिक बन्धन में बंध जाने के लिए 'प्रेम' कर सकते हैं और अपने को विकार की उन भीषण यन्त्रणाओं से बचा सकते हैं। यही और केवल यहीं, प्रेम का स्थान है। पर यदि वह विवाह के बाद व्यक्तियों के जीवनोपवन में कहीं पैर रखना चाहे तब तो उसे उसी समय मार भगाना चाहिए। वह लुटेरा है; घृणा का पात्र है।

* * *

"प्रेम करना अच्छा है या बुरा?" मेरे लिए तो इस सवाल का उत्तर स्पष्ट है।

यदि मनुष्य पहले ही से मनुष्योचित आध्यात्मिक जीवन व्यतीत कर रहा है तब तो उसके लिए 'प्रेम' और विवाह पतन है। क्योंकि अपनी शक्तियों का कुछ हिस्सा उसे अपनी पत्नी, कुटुम्ब या अपने प्रियतम को देना होगा। पर यदि वह पशु-जीवन व्यतीत कर रहा हो—खाने, कमाने, लिखने के क्षेत्र में हो तब तो शादी कर लेना ही उसके लिए फ़ायदेमन्द है, जैसा कि पशु और कीटों के लिए है। शादी उसके प्रेम और सहानुभूति के क्षेत्र को बढ़ाने में सहायता करेगी।

* * *

मैं नहीं सोचता कि तुम्हें स्त्रियों से किसी प्रकार का भी विशेषकर आध्यात्मिक सम्बन्ध रखने की आवश्यकता है। स्त्रियों के साथ में सामाजिक सम्बन्ध भी मनुष्य को तभी रखना चाहिए जब स्त्री-पुरुष विषयक भेदभाव भी उसके दिल से निकल गया हो।

मेरा खयाल है कि तुम्हें परिश्रम की भारी आवश्यकता है। परिश्रम ऐसा हो जो तुम्हारी समस्त शक्तियों को सोख ले।

'उत्पादक शक्ति' विषयक श्रीमती अलाइस स्टॉकहम का वह निबन्ध मुझे बहुत अच्छा लगा जो उन्होंने मेरे पास भेजा है। वह कहती हैं कि जब मनुष्य को अन्य प्राकृतिक क्षुधाओं के साथ-साथ विषय-क्षुधा लगती है, तब वह समझ ले कि यह किसी महान् उत्पादक कार्य के लिए प्रकृति का आदेश है। केवल वह विषय-वासना के अधम रूप में प्रकट हो रहा है। वह एक क़ूवत है जिसको बलिष्ठ इच्छा-शक्ति और दृढ़ प्रयत्न के द्वारा बड़ी आसानी से अन्य शारीरिक अथवा आध्यात्मिक कार्य को परिणत किया जा सकता है।

मेरा भी यही ख़याल है। वह सचमुच एक शक्ति है जो परमात्मा की इच्छा को पूर्ण करने में सहायक हो सकती है। वह पृथ्वी पर स्व-राज्य की स्थापना करने में अपना महत्वपूर्ण काम कर सकती है। जनन-कार्य द्वारा यही काम—पृथ्वी पर स्वर्ग को लाने का काम—हम अगली पुश्त पर अर्थात् अपने बच्चों पर ढकेल देते हैं। ब्रह्मचर्य द्वारा इस शक्ति को ईश्वरेच्छा पूर्ण करने में प्रत्यक्ष लगा देना जीवन का सर्वोच्च उपयोग है। यह कठिन है, पर असंभव नहीं। हमारे सामने सैकड़ों नहीं, हज़ारों आदमियों ने इसे करके दिखा दिया है।

इसलिए यदि तुम अपने विकार को जीत सको तब तो मैं तुम्हें बधाई दूँगा। किन्तु यदि उसके सामने हारना ही पड़े तो शादी कर लेना। कोई चिन्ता नहीं, यह काम ज़रा गौण तो होगा पर बुरा नहीं है।

कामाग्नि से जलते हुए इधर-उधर निरुद्देश पागल की तरह दौड़ते फिरना बुरा है। इस विष को रक्त में अधिक न फैलने देना चाहिए।

हाँ, एक बात और याद रखना। यदि तुम्हारी कल्पना स्त्री-सौख्य में कुछ विशेष आनन्द, विशेष सुख को बताने की कोशिश करे तो उस पर कभी विश्वास न करना। यह सब कामुकता से उत्पन्न होनेवाला भ्रम है। जितना पुरुष के साथ बातचीत करने और उठने बैठने में आनन्द आता है उतना ही स्त्रियों के सान्निध्य से भी आता है। पर ख़ास कर स्त्री-सान्निध्य में ऐसा कोई विशेष आनन्द नहीं है। यदि हमें इसके विपरीत दीखता है तो ज़रूर समझ लेना चाहिए कि हम भ्रम में हैं। भ्रम ज़रा सूक्ष्म है, मीठा है, पर है ज़रूर भ्रम ही।

* * *

तुम पूछते हो, विकार से झगड़ने का कोई उपाय बताइए। ठीक है। परिश्रम, उपवास आदि गौण उपायों में सब से अधिक कारगर उपाय है दारिद्रय—निर्धनता। बाहर से भी अकिंचन दिखाई देना जिससे मनुष्य स्त्रियों के लिए आकर्षण की वस्तु न रहे। पर प्रधान और सर्वोत्तम उपाय तो अविरत संघर्ष ही है! मनुष्य के दिल में हमेशा यह भाव जाग्रत रहना चाहिए कि यह संघर्ष कोई नैमित्तिक या अस्थायी अवस्था नहीं बल्कि जीवन की स्थायी और अपरिवर्तनीय अवस्था है।

तुमने मुझे 'स्कोपट्सी'* जाति के विषय में पूछा है। लोग उन्हें बुरा कहते हैं, क्या यह उचित है? क्या वे मैथ्यू के प्रवचन के उन्नीसवें अध्याय का आशय ठीक-ठीक समझ गये हैं, जब कि वे उसके १० वें पद्य के आधार पर अपने तथा दूसरे की जननेन्द्रियों को काट डालते हैं। प्रश्न के पहले हिस्से के विषय में मेरा यह कथन है कि पृथ्वी पर कोई 'बुरे' लोग नहीं हैं।

सभी एक पिता की सन्तान हैं। सभी भाई-भाई हैं! सभी समान हैं। न कोई किसीसे अच्छा है न बुरा। स्कोपट्सी लोगों के विषय में मैंने जो कुछ भी सुना है उसपर से तो यही जानता हूँ कि वे नीतिमय और परिश्रमी जीवन व्यतीत करते हैं। अब इस प्रश्न का उत्तर कि वे प्रवचन का ठीक आशय समझकर ही अपनी इन्द्रियों को काटते हैं या

---

* यह रूस की एक किसान जाति है जिसका पुरुष वर्ग ब्रह्मचर्य-पूर्वक जीवन व्यतीत करने में समर्थ होने के लिए श्रद्धापूर्वक अपनी जननेन्द्रिय को काट डालता है।

—अनुवादक

कैसे ? मैं निभ्रान्त चित्त से कहता हूँ कि उन्होंने प्रवचन के आशय को ठीक-ठीक नहीं समझा। ख़ासकर अपनी तथा दूसरों की इन्द्रियों को काटना तो धर्म के साफ़-साफ़ विपरीत है। ईसा ने ब्रह्मचर्य के पालन का उपदेश दिया है पर यथार्थतः उसी ब्रह्मचर्य का सच्चा मूल्य और महत्व है जो अन्य सद्‌गुणों की भांति श्रद्धापूर्वक दीर्घ प्रयत्न से विकारों के साथ युद्ध करके प्राप्त किया जाता है। उस संयम का महत्व ही क्या, जहाँ पाप की संभावना ही नहीं ? यह तो उसी मनुष्य का सा हुआ जो अधिक खाने के प्रलोभन से अपने को बचाने के लिए किसी ऐसी दवा को ले जिसमें उसकी भूख ही कम हो जाय, या कोई युद्ध-प्रिय आदमी अपने को लड़ाई में भाग लेने से बचाने के लिए अपने हाथ-पैर बँधवा ले। अथवा गाली देने की बुरी आदतवाला अपनी ज़बान को ही इस खयाल से काट डाले कि उसके मुँह से गाली निकलने ही न पावे। परमात्मा ने मनुष्य को ठीक वैसा ही पैदा किया है जैसा कि वह यथार्थ में है। उसने उसकी मरणाधीन काया में प्राणों को इसलिए प्रतिष्ठित किया है कि वह शारीरिक विकारों को अपने अधीन करके रक्खे। मानव-जीवन का रहस्य यही संघर्ष तो है। परमात्मा ने उसे यह सर्वांगपूर्ण शरीर इसलिए नहीं दिया है कि वह अपने तथा दूसरे के शरीर के किसी हिस्से को काटकर उसे विकलांग बना दे।

यदि स्त्री और पुरुष एक दूसरे की ओर इस तरह आकर्षित होते हैं तो उसमें भी परमात्मा का एक हेतु है। मनुष्य पूर्ण बनने के लिए बनाया गया है। यदि एक पुश्त इस पूर्णता को किसी तरह न प्राप्त कर सके, तो कम से कम दूसरी पुश्त उसे प्राप्त करने की कोशिश करे।

धन्य है, उस दयाधन की चातुरी को ! ऐ मनुष्य, अपने स्वर्गस्थ पिता के समान पूर्ण बन। और इस पूर्णता को प्राप्त करने की कुंजी है ब्रह्मचर्य। केवल शारीरिक ब्रह्मचर्य नहीं, बल्कि मानसिक भी—विषय वासना का सम्पूर्ण अभाव। यदि मनुष्य सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने लग जाय तो मानव-जाति का जीवनोद्देश्य ही सफल हो जाय। फिर मनुष्य के लिए पैदा होने और जीने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाय। क्योंकि तब तो मनुष्य अमर-पूर्ण हो जायँगे। फिर विवाह आदि की कोई झंझट ही न रह जायगी। पर चूँकि मनुष्य ने अभी उस पूर्णता को प्राप्त नहीं किया है इसलिए वह नवीन पुश्तों को पैदा करता जा रहा है। ये नवीन पुश्तें अपनी शक्ति के अनुसार पूर्णता के अधिकाधिक नज़दीक पहुँचती जा रही हैं। इसके विपरीत यदि सभी मनुष्य इन अज्ञान किसानों की भांति अपने शरीरों को विकलांग कर लें तो अपने जीवनोद्देश्य को—परमात्मा की इच्छा को—बिना ही पूर्ण किये, मनुष्य जाति का अन्त हो जायगा।

यह पहला कारण है जिससे मैं उस अज्ञान किसानों के काम को ग़लत समझता हूँ। दूसरा कारण यह है कि धर्माचरण कल्याणप्रद होता है (ईसा ने कहा है मेरी धुरा आसान और बोझ हलका है) और हर प्रकार की हिंसा की निन्दा करता है। यदि वह ज्यादती कोई दूसरे पर करता हो तब तो पाप ही है। पर खुद अपने ऊपर भी ऐसा अत्याचार करना ईसाई-क़ानून का भङ्ग करना है।

तीसरा कारण यह है कि यह किसान-जाति स्पष्ट रूप से मैथ्यू के उन्नीसवें अध्याय के बारहवें पद्य का ग़लत अर्थ करती है। अध्याय के

आरम्भ में जो कुछ कहा गया है वह सब विवाह के विषय में है। और ईसा विवाह के लिए मना नहीं करता। वह तो तलाक की, एक से अधिक पत्नियाँ करने की मुमानियत करता है। इस तरह विवाहित जीवन में भी ईसा ने संयम पर ज्यादा-से-ज्यादा जोर दिया है। मनुष्य को केवल एक ही पत्नी करना चाहिए। इस पर शिष्यों ने शंका की (पद्य १०) कि यह संयम तो बड़ा मुश्किल है, एक ही पत्नी से काम चलना तो नितान्त कठिन है। इसपर ईसा ने कहा कि यद्यपि मनुष्य जन्म-जात अथवा मनुष्यों के द्वारा बनाये गये नपुंसक पुरुष की भांति विषय भोग से अलग नहीं रह सकते तथापि कई ऐसे लोग हैं जिन्होंने उस स्वर्गीय राज्य की अभिलाषा से अपने को नपुंसक बना लिया है, अर्थात् आत्मबल से विकारों को जीत लिया है और प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह इनका अनुकरण करे। "स्वर्गीय राज्य की अभिलाषा से अपने को नपुंसक बना लिया है।" इन शब्दों का अर्थ शरीर पर आत्मा की विजय करना चाहिए न कि शरीर का विकलांग बना देना। क्योंकि जहां पर शारीरिक विकलांगता से उनका मतलब है वहां उन्होंने कहा है—"दूसरे मनुष्यों के द्वारा बनाये गये नपुंसक पुरुष" पर जहां आत्मिक विजय से मतलब है वहां उन्होंने कहा है—"अपने को नपुंसक बना लिया।"

यह मेरा अपना मन्तव्य है और मैं उस बारहवें पद्य का इस तरह अर्थ करता हूँ। पर यदि प्रवचन के शब्दों का यह अर्थ तुम्हें सन्तोष जनक न भी दिखाई देता हो तो भी तुम्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल आत्मा ही जीवन का देनेवाला है। ऐच्छिक रूप से या ज़बरन

मनुष्य को विकलांग कर देना ईसाई धर्म की आत्मा के बिलकुल विपरीत है।

* * *

मेरा खयाल है कि विवाह कर लेने पर स्त्री-पुरुषों का आपस में विषयोपभोग करना अनीति युक्त नहीं है। परन्तु इस पर अधिकारी रूप से कुछ लिखने के पहले मैं इस प्रश्न पर सूक्ष्मतापूर्वक विचार कर लेना ठीक समझता हूँ। क्योंकि आखिर इस कथन में भी बहुत सत्यांश है कि महज़ अपनी विषय-वासना को तृप्त करने के लिए विषय-सेवन करना पाप है। मेरा खयाल है कि महज़ आनन्द प्राप्त करने के लिए विषय सेवन करना भी उतना ही बड़ा पाप है जितना बड़ा कि विषय सेवन से बचने के लिए अपनी इन्द्रिय को काट डालना। भूखों मरकर प्राण देना जितना भयङ्कर पाप हैं, अधिक खाकर जीवन से हाथ धोना भी उतना ही बड़ा पाप है।

स्वेच्छापूर्वक नपुंसकत्व धारण करनेवालों का यह कथन ठीक है कि अध्यात्मिक आवश्यकता के न होते हुए भी विषय-भोग करना बुरा हैं, अनीतियुक्त हैं। महज़ शारीरिक सुख के लिए तथा प्रकृति के बताये समय के अतिरिक्त भी बार-बार विषय-भोग करना पाप है, व्यभिचार है। पर उनका यह कथन ग़लत है कि वंश के चलानेवाली सन्तान की प्राप्ति के लिए अथवा आध्यात्मिक प्रीति के खयाल से विषय-भोग करना भी ग़लत है।

इन्द्रियों का काटना कुछ-कुछ ऐसा काम है। फ़र्ज़ कीजिए कि एक आदमी बड़ा ही शिथिल और अनीतिमय जीवन व्यतीत कर रहा है।

वह अपने अनाज से शराब बना-बनाकर पीता रहता है और नशे में चूर रहता है। बाद में किसी प्रकार उसे कोई यह जँचा देता है कि यह बुरा है, पाप है और वह भी इसकी यथार्थता को समझ लेता है। अब इस बुरी आदत को छोड़कर अपने अनाज का सदुपयोग करने के बदले वह सोचता है कि इस व्यसन से बचने का स्वर्णोंपाय तो यही है कि अनाज ही जला डालूँ और वह ऐसा ही कर भी डालता है। फल यह होता है कि वह व्यसन उसके अन्दर ज्यों-का-त्यों रह जाता है उसके पड़ौसी पहले ही कि भाँति शराब बनाते रहते हैं। पर वह न अपने बीबी-बच्चों का, न दूसरों का तथा न अपना ही पेट भर सकता है।

ईसा ने नन्हे-नन्हे बच्चों की तारीफ व्यर्थ नहीं की। व्यर्थ ही उसने यों नहीं कहा कि स्वर्ग का राज्य उन्हींका है। बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोगों के खयाल में जो बातें नहीं आतीं, उनका आकर्षण वे फ़ौरन कर लेते हैं। हम स्वयं इस यथार्थता को अनुभव करते हैं। यदि बच्चे पैदा होना बन्द हो जाय तो स्वर्ग का राज्य पृथ्वी पर आने की सभी उम्मीदों पर पानी फिर जाय। बस, वही बच्चे हमारी आशा के आधार हैं। हम तो पहले ही बिगड़ चुके हैं और अब यह महा कठिन है कि हम अपने को पुनः पवित्र कर सकें। पर यहाँ तो प्रत्येक पुश्त में, प्रत्येक परिवार में नये-नये बच्चे पैदा होते हैं जो निर्दोष पवित्र आत्मायें हैं। संभव है ये आखिर तक पवित्र रह सकें। नदी का पानी गन्दा और अपवित्र है पर उसमें कितने ही निर्मल जल के स्रोत मिले हुए हैं। इसलिए यह आशा करना व्यर्थ नहीं कि एक दिन उस नदी का पानी भी उन्हीं स्रोतों के समान निर्मल हो सकेगा।

यह एक महान् प्रश्न है और इसपर विचार करते हुए मुझे बड़ा आनन्द आता है। मैं तो केवल यह जानता हूँ कि विकारमय जीवन तथा विकार के भय से इन्द्रिय को काटकर जीना एकसा ही बुरा है। पर इन दोनों में इन्द्रिय काटना बहुत ही बुरा है।

विकाराधीनता में कोई गर्व की बात नहीं, बल्कि लज्जा की बात है। पर अंग वैकल्य में लज्जा नहीं। बल्कि लोग तो इस बात पर अभिमान करते हैं कि उन्होंने प्रलोभन और संघर्ष से बचने के लिए परमात्मा के नियम को ही तोड़ डाला। सच तो यह है कि अङ्ग-वैकल्य में विकार नष्ट नहीं होता। यथार्थतः आत्मा की, हृदय की शुद्धि की आवश्यकता है। लोग इस जाल में क्यों फँस जाते हैं? इसका एकमात्र कारण यह है कि अन्य सब भले ही नष्ट हो जायँ पर काम-विकार एक ऐसी वस्तु है जो कभी नष्ट हो ही नहीं सकती। पर फिर भी मनुष्य का कर्तव्य है कि वह तमाम विकार के नाश करने की कोशिश करे। तन, मन, धन से यदि मनुष्य परमात्मा को प्यार करने लग जाय तो वह अपने-आप को पूरी तरह भूल सकता है। पर वह तो बड़ा लम्बा रास्ता है और यही कारण है कि लोग घबराकर कोई छोटा नज़दीक का रास्ता ढूँढने की कोशिश करते हैं कि इस नज़दीक के रास्ते से चलकर भी हम अपने मुक़ाम पर पहुँच सकेंगे और हम भीषण विकार से अपना पिंड छुड़ा सकेंगे पर दुर्दैव तो यह है कि ऐसी पगडण्डियों पर भटकने से मनुष्य अकसर अपने मुकाम पर पहुंचने के बदले उलटा किसी दलदल में जा फँसता है।

* * *

वंश को टिकाये रखने के लिए अलबत्ता विवाह अच्छा और आवश्यक है। पर यदि लोग केवल इसी उद्देश्य से विवाह करना चाहें तो यह आवश्यक है कि वे पहले इस बात को महसूस करें कि हमारे अन्दर अपने बच्चों को सुशिक्षित और सुसंस्कृत करने की शक्ति है। अपने बच्चों को वे समाज का अन्न खुटाने वाले नहीं बल्कि ईश्वर और मनुष्य का सच्चा सेवक बनाने के इच्छुक हों और इसके लिए यह आवश्यक है कि उनमें ऐसी शक्ति हो जिससे वे दूसरों की कृपा पर नहीं, बल्कि अपने पराक्रम से जियें। मनुष्य जाति से जितना लें, उससे अधिक उसे दें।

इसके विपरीत हम लोगों में यह कल्पना रूढ़ है कि मनुष्य तभी शादी करे जब वह दूसरे की गर्दन पर अच्छी तरह सवार हो गया हो। दूसरे शब्दों में जब उसके पास 'साधन-विपुलता' हो। पर होना चाहिए इसके ठीक विपरीत। केवल वही विवाह करे जो साधन हीन होने पर भी अपने बच्चों का पालन पोषण और शिक्षा का बोझ उठाने की क्षमता रखता हो। केवल ऐसे ही पिता अपने बच्चों को अच्छी तरह सुशिक्षित कर सकते हैं।

* * *

विषयेच्छा यदि ईश्वर के कानून को पूर्ण करने की नहीं तो अपने वंशजों द्वारा उसकी पूर्ति को अनिवार्य बनाने के साधनों की रचना की भूख है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में इसकी सत्यता की अनुभूति भी होती है। मनुष्य जितना ही उस क़ानून की पूर्ति के नज़दीक पहुँचता है, उतना ही उसकी क्षुधा से वह मुक्त होता जाता है। साथ ही वह

जितना ही उसकी पूर्ति से दूर रहता है उतने ही ज़ोरों से वह विषय-क्षुधा को अनुभव करता है।

* * *

विषय-भोग आकर्षण इसलिए है कि वह हमारे एक महान् कर्तव्य से मुक्ति पाने का साधन है। मानों वह मनुष्य को एक बोझ से मुक्त कर, उसे दूसरे पर डाल देता है। मैं नहीं, तो मेरे बच्चे स्वर्गीय राज्य को पायेंगे। इसलिए स्त्रियां अपने बच्चों में इतनी तन्मय हो जाती हैं।

* * *

एन-ने ब्रह्मचर्य की कल्पना का विरोध किया। दलील यह पेश की गई कि यदि सभी ब्रह्मचर्य का पालन करने लग जायँगे तो मनुष्य जाति का अंत ही हो जायगा। इसका उत्तर मैंने इस तरह दिया था। पादरियों के विश्वास के अनुसार संसार का अंत एक न एक दिन निश्चित है। विज्ञान भी यही कहता है कि किसी एक समय पृथ्वी के तमाम प्राणी ही नहीं, स्वयं पृथ्वी भी नष्ट हो जायगी। फिर केवल इसी कल्पना में इतना चौंकने योग्य क्या है कि नीतिमय और सदाचारयुक्त जीवन से एक दिन मनुष्य-जाति का अन्त होने की सम्भावना है। शायद पहली और दूसरी बात साथ-साथ भी हों। बल्कि किसी लेखक ने अपने लेख में यह सूचित भी किया है "ब्रह्मचर्य का पालन कर मनुष्य अपने को ऐसी बुरी मौत से बचा क्यों न ले।" वाह! कैसी खरी बात है।

हारशेल ने एक हिसाब लगाया है। वह कहता है आज की तरह यदि संसार के आरम्भ-काल से मनुष्य संख्या प्रति वर्ष दूनी होती रहती

तो पहले स्त्री-पुरुष के बाद सात हजार वर्ष में ही—मान लें कि अभी मनुष्य जाति की उम्र इतनी ही है—हमारी संख्या बेहद बढ़ जाती। मान लें कि पृथ्वी का पृष्ठ भाग एक बड़ा भारी पिरामिड का आधार है। और उस पर उन समस्त मनुष्यों को पिरामिड के आकार में एक के सिर पर दूसरा इस तरह खड़े कर दें तो वे पृथ्वी से सूर्य की ऊँचाई से २७ गुना अधिक ऊँचा पहुँच जाते।

नतीजा क्या निकला ? सिर्फ़ दो बातें—या तो हमें प्लेग या महा-युद्धों को मानना और चाहना चाहिए या संयमशील जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। बढ़ती हुई मनुष्य संख्या से संयम का आदर्श ही हमें बचा सकता है।

प्लेग और युद्धों के अङ्कों को संयमशील राष्ट्र की जन-संख्या से तुलना करके देख लेना चाहिए। तुलना बड़ी मनोरञ्जक साबित होगी। निश्चय ही इसका सम्बन्ध एक दूसरे के विपरीत होगा। जहाँ विनाशक साधनों की संख्या कम है, वहाँ संयमशीलता अधिक पाई जायगी। एक, दूसरे की पूर्ति करती है।

हठात् हम एक दूसरे नतीजे पर भी पहुँचते हैं। पर मैं इसे अभी स्पष्ट रूप से रखने में समर्थ नहीं हूँ। यही कि, मनुष्य संख्या के घटने की चिंता करना, उसका हिसाब लगाते बैठना ठीक नहीं है। केवल प्रेम ही श्रेष्ठ मार्ग है। पर पवित्रता को छोड़कर प्रेम कभी अकेला रहता ही नहीं। हम एक ऐसे आदमी की कल्पना करते हैं जो जन-संख्या को बढ़ाना भी चाहता है और घटाना भी। एक साथ ही चित्त में दोनों विकारों का होना असंभव है। एक उपाय है। एक प्राणी की जान

निकाल कर उसी समय दूसरा उत्पन्न करना होगा। क्या यह हो सकता है?

एक बात साफ़ है। "अपने स्वर्गीय पिता के समान पूर्ण बन।" यह पूर्णता पहले पवित्रता और बाद प्रेम में निवास करती है। पहला नतीजा है पवित्रता, दूसरा जाति की रक्षा।

एन्. अपने एक दूसरे पत्र में लिखता है कि विषयभोग पवित्रकार्य है क्योंकि इससे वंश-वृद्धि होती है। इस पर मैं यह सोच रहा हूँ कि जिस प्रकार अन्य प्राणियों के साथ-साथ मनुष्य को भी जीवन कलह के नियम के सामने सिर झुकाना पड़ता है, उसी प्रकार उसे पुनर्जनन के क़ानून के सामने भी अन्य प्राणियों की भाँति अपना मस्तक नवाना पड़ता है।

पर मनुष्य, मनुष्य है। कलह के विपरीत उसका अपना एक भिन्न क़ानून है—प्रेम। इसी प्रकार पुनर्जनन के विपरीत भी उसका अपना एक उच्चतर नियम है—ब्रह्मचर्य—संयम।

* * * *

'अपने माता-पिता, बीबी-बच्चे आदि को छोड़ कर मेरा अनुसरण कर' इन शब्दों का अर्थ तुमने ग़लत समझा है। जब मनुष्य के चित्त में धार्मिक और पारिवारिक कर्तव्यों के बीच युद्ध छिड़ जाय तब समझौते की शर्तें बाहर से नहीं पेश की जा सकतीं। बाहरी नियम या उपदेश कोई काम नहीं कर सकते, इनको तो मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार खुद ही सुलझाना चाहिए। आदर्श तो वही रहेगा, 'अपनी पत्नी को छोड़ मेरे पीछे चल।' पर यह बात तो केवल वह आदमी और

परमात्मा ही जानता है कि इस आदेश का पालन वह कहाँ तक कर सकता है।

तुम पूछते हो, अपनी पत्नी को छोड़ने के माने क्या होते हैं क्या इसके मानी यह हैं कि इसे "त्याग दो, इसके साथ सोना बन्द कर दो, संतानोत्पत्ति न करो ?"

हाँ, स्त्री को छोड़ने के मानी यही हैं कि हम उससे पतित्व का रिश्ता तोड़ दें। संसार की अन्य स्त्रियों की तरह अपनी बहन की तरह उसे समझें। यह आदर्श है। पर इसकी पूर्ति इस तरह करनी चाहिए जिससे उसे (पत्नी को) * क्षोभ न होने पावे, उसकी राह न रुक जाय, प्रलोभन और अनीतिमय जीवन की ओर वह बह न जाय। यह महा कठिन कार्य है। संयम-शील, जीवन की ओर बढ़ने वाला प्रत्येक पुरुष अपने ही द्वारा पहुंचाये गये इस घाव को भरने की कठिनाई को महसूस करता है। मैं तो केवल एक ही बात सोच और कह सकता हूँ। विवाह हो जाने पर भी पाप को बढ़ाने का मौका न देते हुए अपनी शक्ति भर और जीवन भर अविवाहित संयमशील जीवन व्यतीत करने की कोशिश करना चाहिए।

* * *

संयम, बस, संयम ही सब कुछ है। संयम-शक्ति का विकास सब से अधिक महत्त्व रखता है। जिस क्षण लोग ब्रह्मचर्य-संयम

---

* अवश्य ही संयमशील जीवन व्यतीत करने की अभिलाषा रखने वाले प्रत्येक पुरुष और स्त्री के लिए भी टालस्टाय की यही सिफारिश है।

में कल्याण का दर्शन कर लेंगे, बस, उसी क्षण विवाह-प्रथा बन्द हो जायगी।

जीवन को सुखमय बनाने के खयाल से ही यदि कोई शादी करेगा तो उसे कदापि अपने उद्देश में सफलता न मिलेगी। अन्य सब बातों को अलग रखके, केवल विवाह को—प्रियतम व्यक्ति के साथ सम्मिलन को—ही जीवन का लक्ष्य बना लेना ग़लती है। आदमी यदि विचार करे तो उसे यह गलती नज़र भी आ सकती है। जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या विवाह है? अच्छा, आदमी शादी करता है। तब क्या? यदि उन दोनों को जीवन में कोई महत्वाकांक्षा नहीं है तो उसे उत्पन्न करना या ढूंढ़ना अत्यन्त कठिन ही नहीं, पर असम्भव होगा। साथ ही यह स्पष्ट है कि यदि दोनों के जीवन में विवाह के पूर्ण साधर्म्य नहीं हैं तो विवाह के बाद उनका दिल मिलना असम्भव है। वे शीघ्र ही एक दूसरे से दूर सोने लगेंगे। विवाह तभी सुखकर होता है जब दोनों के जीवन का लक्ष्य एक ही होता है।

दो व्यक्ति एक ही रास्ते पर मिलते हैं और कहते हैं—"चलो, हम साथ-साथ चले चलें।" बहुत अच्छा। दोनों एक दूसरे को सहारा देते हैं और अपना रास्ता तय करते हैं।

पर जब वे अपने अपने रास्ते पर मुड़ते हैं तब हृदय में पारस्परिक आकर्षण होने पर भी वे एक दूसरे की सहायता नहीं कर सकते। इस का कारण यही है कि लोगों की ये धारणायें ग़लत हैं कि जीवन अश्रु-पूर्ण घाटी है अथवा जैसा कि अधिकांश लोग समझते हैं कि यौवन, स्वास्थ्य और संपत्ति के होने पर वह एक सुख का स्थान है।

यथार्थ में जीवन सेवा का क्षेत्र है। इसमें मनुष्य को कई बार असीम कष्ट सहने पड़ते हैं। पर साथ ही आनन्द भी कई प्रकार का मिलता है। मनुष्य को जीवन में सच्चा आनन्द तभी प्राप्त होता है जब वह अपने जीवन को सेवामय बना लेता है। अपने व्यक्तिगत सुख को छोड़ कर जब वह संसार में किसी उद्देश को स्थिर कर लेता है। अक्सर विवाह करने वाले इस बात की ओर ध्यान नहीं देते। विवाहित जीवन में और पितृ-पद प्राप्त करने पर कितने ही आनन्द के प्रसंग आते जाते रहते हैं। मनुष्य सोचता है—जीवन और क्या है। इससे कुछ भिन्न थोड़े ही हैं। पर यह भयंकर भूल है।

जीवन में किसी ध्येय को बिना ही स्थिर किये यदि माता पिता जियें और बच्चे पैदा करते रहें, तो कहना होगा कि वे इस प्रश्न को आगे धकेल रहे हैं कि जीवन का उद्देश्य क्या है। साथ ही वे इस बात को भी जानने से इन्कार करते हैं कि जीवन के लक्ष्य का बिना ही ध्यान किये रहने का क्या फल होता है। वे इस महत्वपूर्ण प्रश्न को भले ही आगे धकेल दें, पर टाल तो कदापि नहीं सकते, क्योंकि अपने और बच्चों के जीवन का कोई ध्येय निश्चित न करने पर भी उन्हें उनको सुशिक्षित तो ज़रूर करना ही होगा। इस हालत में माता-पिता अपने मनुष्योचित्त गुणों को और उनसे उत्पन्न होने वाले सुख से हाथ धो बैठते हैं और केवल बच्चे बढ़ाने वाली कल बन जाते हैं।

और इसीलिए विवाह की इच्छा करने वाले लोगों से मैं कहता हूँ कि अभी आपके सामने विशाल जीवन पड़ा हुआ है। इसलिए आप सबसे पहले अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित कर लें। और इस पर

प्रकाश डालने के लिए मनुष्य को चाहिए कि वह उस तमाम परिस्थिति का विचार और निरीक्षण कर ले जिसमें कि वह रहता है। जीवन में कौन-सी चीज़ महत्वपूर्ण है, कौन-सी व्यर्थ है, इस विषय में यदि उसने पहले भी कोई विचार किया हो तो उसको भी पूरी तरह जाँच ले। वह यह भी निश्चय कर ले कि वह किसमें विश्वास करता है अर्थात् वह किस बात को शाश्वत सत्य मानता है और किन सिद्धान्तों के अनुसार वह अपने जीवन को घड़ना चाहता है। इन बातों का केवल विचार और निश्चय ही करके वह न ठहरे। उन पर अमल करना भी शुरू करदे। क्योंकि जब तक मनुष्य किसी सिद्धान्त पर अमल करने नहीं लग जाता तब तक वह यह नहीं जान पाता कि वह उसमें सचमुच विश्वास भी करता है या नहीं। तुम्हारी श्रद्धा को मैं जानता हूँ। इस श्रद्धा के जिन अंगों पर तुम अमल कर सको, अभी से उन पर अमल करना शुरू कर दो। यही उसके लिए सबसे योग्य समय है। यह विश्वास और श्रद्धा अच्छी है कि मनुष्यों पर प्यार करना चाहिए और उनका प्रेमपात्र बनना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मैं तीन प्रकार से सतत प्रयत्न करता हूँ। इसमें अति की शंका ही न होनी चाहिए। और यही तुम्हें भी इस समय करना चाहिए।

दूसरे पर प्यार करना और प्रेम-पात्र बनाना सीखना हो तो मनुष्य को सबसे पहले यह सीखना चाहिए—दूसरों से अधिक आशा न करो। जितनी हो सके अपनी आशा—कामनाओं को घटा दो। यदि मैं दूसरे से अधिक अपेक्षा करूँगा तो मुझे उनकी 'पूर्ति का अभाव भी बहुत अखरेगा। फिर मैं प्रेम करने की ओर नहीं, दोष देने की ओर झुकूंगा।

अतः इस विषय में बहुत-कुछ सावधानी और तालीम की आवश्यकता है।

दूसरे केवल शब्दों से नहीं कार्य द्वारा प्यार करना सीखना चाहिए। अपने प्रियतम की किसी न किसी प्रकार उपयोगी सेवा करना सीखना आवश्यक है। इस क्षेत्र में और भी अधिक काम है।

तीसरे प्यार करने की कला सीखने के लिए मनुष्यों को शान्ति और नम्रता के गुणों को धारण करना चाहिए। इसके अलावा उनके लिए असुखकर वस्तुओं तथा मनुष्यों के असुखकर प्रभावों को सहन कर लेने की क्षमता धारण कर लेना भी परमावश्यक है। अपने व्यवहार को ऐसा बनाने की कोशिश करनी चाहिए जिससे किसी को कोई क्लेश न हो। यदि यह असम्भव दिखाई दे तो कम से कम हमें किसी का अपमान तो कदापि न करना चाहिए। हमेशा यह प्रयत्न रहे कि मेरे शब्दों की कटुता जहां तक सम्भव हो, कम हो जाय। इसके अलावा हमें और भी कई काम करने होंगे। अब तो सुबह से शाम तक काम ही काम बना रहेगा। और यह कार्य होगा—आनन्दमय। क्योंकि प्रतिदिन हमें अपनी प्रगति पर खुशी होती रहेगी। अब हमें शनैः-शनैः लोगों के प्रेम-भाव के रूप में इसका आनन्ददायक पुरस्कार भी मिलने लगेगा।

इसलिए मैं तुम दोनों को सलाह दूँगा कि जितनी गम्भीरता के साथ हो सके, विचार करो और अपने जीवन को गम्भीर बनाओ। क्योंकि ऐसा करने ही से तुम्हें पता लगेगा कि तुम एक ही राह के पथिक हो या नहीं। साथ ही तुम्हें यह भी मालूम हो जायगा कि तुम दोनों को विवाह करना उचित है या नहीं। गम्भीर विचार और जीवन

द्वारा तुम अपने को अपने उद्देश के नज़दीक भी ले जा सकोगे। तुम्हारे जीवन का उद्देश यह न हो कि तुम विवाह कर विवाहित-जीवन का आनन्द लूटो। बल्कि यह हो कि अपने निर्मल और प्रेममय जीवन द्वारा संसार में प्रेम और सत्य का प्रचार करो। विवाह का उद्देश ही यह है कि पति-पत्नी एक दूसरे को इस उद्देश की पूर्ति में आगे बढ़ने में सहायता करें।

सबसे अधिक स्वार्थी और अपराध्य जीवन उन व्यक्तियों का होता है जो केवल जीवन का आनन्द लूटने के लिए सम्मिलित होते हैं। इसके विपरीत सर्व श्रेष्ठ जीवन उन स्त्रियों और पुरुषों का होता है जो संसार में सत्य और प्रेम के प्रचार द्वारा परमात्मा की सेवा करने के लिए जीते और वैवाहिक रीति से सम्मिलित होते हैं।

देखना कहीं ग़फ़लत न हो। दोनों रास्ते यों तो एक से ही दीखते हैं, पर हैं बिलकुल जुदे-जुदे। मनुष्य सर्वोत्कृष्ट रास्ते को ही क्यों न चुने! अपनी सारी आत्मा उसमें डाल दो। थोड़ी सी संकल्प-शक्ति से काम न चलेगा।

* * *

बेशक, प्रत्येक चतुर व्यक्ति जिसे अच्छी तरह जीने की इच्छा है, ज़रूर शादी करे। पर प्रेम करके नहीं, हिसाब लगा कर उसे शादी करनी चाहिए। स्पष्ट ही इन दो शब्दों का वह अर्थ न लगाना जो प्रचलित है।

अर्थात् वैषयिक प्रेम की पूर्ति के लिए नहीं, बल्कि इस बात का हिसाब लगाकर मनुष्य को शादी करनी चाहिए कि मेरा भावी साथी

मनुष्योचित जीवन व्यतीत करने में मुझे कहाँ तक सहायक या बाधक होगा।

* * *

भाई, सब बातें छोड़ दो। शादी करने के पहले बीस नहीं, सौ बार अच्छी तरह विचार कर लो। एक नीतिमान् व्यक्ति के लिए विषय-जाल में पड़कर शादी कर लेना अत्यन्त हानिकर है। मनुष्य को उसी प्रकार शादी करनी चाहिए, जैसे कि वह मृत्यु को प्राप्त होता है। अर्थात् जब कोई मार्ग ही न रह जाय तभी वह शादी करे।

* * *

मृत्यु के दूसरे नम्बर में, समय की दृष्टि से, विवाह के समान अपरिवर्तनीय और महत्वपूर्ण और कोई वस्तु नहीं। मृत्यु के समान विवाह भी वही अच्छा है, जो अनिवार्य हो। अकाल-मृत्यु के समान अकाल-विवाह भी बुरा होता है। वह विवाह बुरा नहीं, जिसे हम टाल ही नहीं सकते।

* * *

विवाह को टालने की गुञ्जाइश होते हुए भी जो शादी करते हैं, उनकी तुलना मैं उन लोगों से करता हूँ, जो ठोकर खाने के पहले ही ज़मीन पर लोट जाते हैं। यदि मनुष्य सचमुच गिर पड़े तो कोई उपाय भी नहीं रह जाता। पर ख्वामख्वाह क्यों गिरा जाय ?

विवाह का प्रश्न वास्तव में इतना सरल नहीं, जितना कि दीख पड़ता है। 'प्रेम' करना एक ग़लत रास्ता है। पर विवाह-विषयक गहरे विचारों में पड़ जाना दूसरा विमार्ग है। आप कहते हैं—मनुष्य को

पहली ही लड़की से शादी कर लेनी चाहिए, अर्थात् मनुष्य को अपने सुख का खयाल छोड़ देना चाहिए, यही न ? तब इसके मानी तो यह हुए कि अपने को भाग्य के हाथों में सौंप दें और अपनी पसन्दगी को अलग रखकर दूसरे के द्वारा किये गये अपने चुनाव में ही संतोष मान लें। उलझनों से भरी हुई पापमय अवस्था में हम अविवेक से नहीं चल सकते। क्योंकि यदि हम बलपूर्वक अपनी परिस्थिति को तोड़ने की कोशिश करने लगें तो दूसरों को कष्ट पहुंचता है, पर यदि भावुकता आदमी को एक उलझन में डालती हो तो कोरी सिद्धान्त-प्रियता मनुष्य को इस प्रश्न के और भी जटिल हिस्से में पहुँचा देगी। सबसे सरल उपाय तो यह है कि मनुष्य को किसी मध्यवर्ती पदार्थ को अपना ध्येय या उद्देश न बनाना चाहिए; बल्कि हमेशा श्रेष्ठ, सदाचारयुक्त जीवन को ही अपना ध्येय बनाये रखना चाहिए और उसकी ओर शांतिपूर्वक क़दम बढ़ाते जाना चाहिए। ऐसा करने से निश्चय ही एक समय ऐसा आवेगा और संयोगों का एकीकरण भी इस तरह होगा कि मनुष्य के लिए अविवाहित रहना असंभव हो जायगा। यह मार्ग अधिक सुरक्षित है। इसके अवलम्बन से न तो मनुष्य ग़लती ही करेगा और न पाप का भागीदार ही हो सकता है।

* * *

विवाह के विषय में लोकमत तो जाहिर ही है। "यदि आजीविका के साधनों को प्राप्त किये बिना ही लोग शादियां करने लग जाँय तो दो-चार साल के अन्दर ही दरिद्र, बच्चे और कष्टों की फसल आने लगेगी। दस-बारह साल के बाद कलह, एक दूसरों के दोषों को ढूँढना और

प्रत्यक्ष नरक का निवास उस परिवार में हो जायगा। समष्टिरूप से यह परम्परागत लोकमत बिलकुल ठीक है। यदि विवाह करने वालों का कोई दूसरा अंदरूनी हेतु न हो, जो कि उनके आलोचकों को ज्ञात न हो, तब तो उसका भविष्य-कथन भी सच्चा-सच्चा साबित होता है। यदि ऐसा कोई उद्देश्य हो तब तो अच्छा है। पर उसका केवल बुद्धिगत होना ही काफ़ी नहीं, कार्य में, जीवन में भी परिणाम होना आवश्यक है। मनुष्य को अपने जीवन में इसकी पूर्ति के लिए एकसी व्याकुलता होनी चाहिए। यदि यह उद्देश्य है तब तो ठीक है, वे लोकमत को ग़लत सिद्ध कर सकेंगे। अन्यथा उनका जीवन अवश्य ही दुःखमय सिद्ध हुए बिना न रहेगा।

* * *

तुम्हारा सम्मिलन दो कारणों से हुआ है। एक तो अपनी श्रद्धा—विश्वास—के और दूसरे प्रेम के कारण। मेरा तो खयाल है, इनमें से एक भी काफ़ी है। सच्चा सम्मिलन सच्चे निर्मल प्रेम में है। यदि यह सच्चा प्रेम हो और उससे भावुक प्रेम भी उत्पन्न हो गया हो, तब तो वह और भी अधिक मज़बूत हो जाता है। यदि केवल भावुक प्रेम ही हो तो वह भी बुरा नहीं है। यद्यपि उसमें अच्छाई तो कुछ भी नहीं है, फिर भी एक धकने योग्य बात है। निश्चय स्वभाव और महान् यत्नों के बल पर मनुष्य ऐसे प्रेम से भी काम चला लेता है। पर जहां ये दोनों न हों, वहां तो निःसन्देह बड़ी बुरी हालत होती होगी। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि मनुष्य अपने साथ बहुत सख्ती करके यह देख ले कि किस प्रेम के द्वारा उसका हृदय आन्दोलित हो रहा है।

उपन्यासकार अपने उपन्यासों का अन्त अक्सर नायक नायिका के विवाह में करते हैं। यथार्थ में उनको विवाह से अपना उपन्यास शुरू करना चाहिए और अन्त विवाह-बन्धनों को तोड़ने में ब्रह्मचर्य-जीवन व्यतीत करने का आदर्श पेश करके करना चाहिए। नहीं तो मानव-जीवन का चित्र खींचकर विवाह तक समाप्त करना ठीक ऐसा ही भद्दा मालूम होता है, जैसा कि एक मुसाफिर की पूरी मुसाफ़िरी का वर्णन कर जहां चोर उसे लूटने लगें वहीं कहानी को छोड़ दें।

धर्म-ग्रन्थ में विवाह की आज्ञा नहीं है। उसमें तो विवाह का अभाव ही है। अनीति, विलास, तथा अनेक स्त्री-संभोग की कड़े से कड़े शब्दों में निन्दा अलबत्ते की गई है। विवाह-संस्था का तो उसमें उल्लेख भी नहीं है। हां, पादरीशाही ज़रूर उसका समर्थन करती है। 'जन्नियस' का आगमन जिस तरह करों का समर्थन करता है उसी तरह 'करना' का बेहूदा चमत्कार भी विवाह-संस्कार का समर्थन करता है।

* * *

हां, मेरा ख़याल है कि विवाह-संस्था ईसाई-धर्म की संस्था नहीं है। ईसा ने कभी शादी नहीं की, न उसके शिष्यों ने कभी विवाह किया। उसने विवाह की स्थापना भी तो नहीं की। बल्कि लोगों से उसने, जिनमें से कुछ विवाहित थे और कुछ अविवाहित, यही कहा था कि वे अपनी पत्नियों की अदला-बदली (तलाक़) न करें, जैसा कि मूसा के कानून के अनुसार वे कर रहे थे। (मेथ्यू अध्याय ५) अविवाहित लोगों से उसने कहा था कि वे यथासम्भव शादी न करें। (मेथ्यू अध्याय १६ पद्य १०–१२) और सर्व-साधारण से आम तौर पर उसने

यही कहा था कि वे स्त्री जाति को अपनी भोग-सामग्री न समझें। (मेथ्यू अध्याय ५ पद्य २८) कहने की आवश्यकता नहीं कि यही स्त्रियों को भी पुरुषों के विषय में समझना चाहिए।

इससे हम निम्न अमली नतीजों पर पहुँचते हैं।

जनता में यह धारणा फैली हुई है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को विवाह अवश्य करना चाहिए। इस धारणा को त्याग कर स्त्री-पुरुषों को यह मानना चाहिए कि प्रत्येक स्त्री वा पुरुष के लिए आवश्यक है कि वह अपनी पवित्रता की रक्षा करे, जिससे अपनी तमाम शक्तियों को परमात्मा की सेवा में अर्पण करने में उसके मार्ग में किसी प्रकार की रुकावट न हो।

किसी भी स्त्री वा पुरुष का पतन (शरीर-सम्बन्ध) केवल एक ग़लती न समझी जाय, जो किसी दूसरे व्यक्ति (स्त्री या पुरुष) के साथ विवाह कर लेने पर सुधर सकती है। न वह अपनी आवश्यकताओं की क्षय-पूर्ति ही समझी जाय। बल्कि किसी भी व्यक्ति का अन्य स्त्री या पुरुष के साथ शारीरिक सम्बन्ध होते ही वह सम्बन्ध एक अटूट विवाह-बन्धन का द्वार ही समझा जाय (मैथ्यू अध्याय १८ पद्य ४-६), जो उन व्यक्तियों पर अपने-आपसे मुक्त होने के लिए कर्तव्य का एक गम्भीर आदेश कर देता है।

विवाह अपनी वैषयिकता के प्रशमन करने का एक साधन नहीं, बल्कि एक ऐसा पाप समझा जाय जिससे मुक्त होना परमावश्यक है।

इस पाप से इस तरह मनुष्य की मुक्ति हो सकती है—पति और पत्नी दोनों अपने को विलासिता और विकार से मुक्त करने की कोशिश

करें और इसमें एक दूसरे की सहायता कर तथा आपस में उस पवित्र सम्बन्ध की स्थापना करने की भी कोशिश करें, जो भाई और बहन के बीच होता है, न कि प्रेमी और प्रेमिका के बीच। दूसरे, वे अपनी सारी शक्ति इस विवाह से होने वाले अपने बच्चों कों सुशिक्षित और सुसंस्कृत बनाने में लगा दें। बस, यह उस पाप से मुक्ति पाने का मार्ग है।

इस विचार-शैली में और विवाह के विषय में समाज में जो कल्पना प्रचलित है उसमें महान् अंतर है। लोग शादियाँ करते ही रहेंगे। माता-पिता भी अपने लड़के-लड़कियों के विवाहादि बराबर निश्चित करते रहेंगे। पर यदि विवाह का दृष्टिकोण बदल जायगा तो इसमें महान् अंतर हो जायगा। विषय-क्षुधा को शांत करने, संसार में सर्वश्रेष्ठ आनन्द मानकर विवाह करने, और उसे अनिवार्य पाप समझ कर विवाह करने में महान् अंतर है। पवित्र हृदय वाला मनुष्य तो तभी शादी करेगा जब उसके लिए अववाहित रह कर पवित्र बने रहना असंभव हो जायगा। विवाह करने पर भी वह विकार का दास नहीं बनेगा, बल्कि अपने को उससे मुक्त करने की सतत चेष्टा करता रहेगा। अपने बालकों के आध्यात्मिक कल्याण का खयाल रखने वाले माता-पिता अपने प्रत्येक लड़के-लड़की की शादी करना अनिवार्य न समझेंगे; बल्कि उनकी शादी तभी करेंगे, अर्थात् उनके पतन को भीषण होने देने से रोकेंगे और उन्हें शादी की सलाह, जब वे देख लेंगे कि उनके लड़के या लड़कियां अब अपने को पवित्र नहीं बनाये रख सकते—जब वे देख लेंगे कि वे विवाह किये बिना रह ही नहीं सकते। विवाहित स्त्री-पुरुष अभी की

भाँति अधिक बच्चों की इच्छा नहीं करेंगे, बल्कि पवित्र जीवन व्यतीत करने की कोशिश करते हुए यदि एक दो बच्चे हो भी जावेंगे तो खुश होंगे। साथ ही वे अपनी तमाम शक्ति, अपना अधिकांश समय अपने और अपने पड़ौसियों के बच्चों को, ईश्वर के भावी सेवकों को, सुसंस्कृत बनाने में लग जावेंगे। क्योंकि यह भी ईश्वर ही की तो सेना है।

उनमें और विवाह को आनन्द का साधन मानने वालों में वही भेद होगा, जो जीवन निर्वाह के लिए खाने वालों में और खाने के लिए जीने वालों में होता है। एक वर्ग इसलिए अन्न खाता है कि बिना अन्न के जीवन-यात्रा तय करना असम्भव है। इसलिए वे खाने को एक गौण वस्तु, गौण कर्तव्य, समझ कर यथासम्भव उसके लिए अपना थोड़ा समय, थोड़ी शक्ति और थोड़ा विचार ही देते हैं। दूसरा वर्ग तो खाने के लिए ही जीता है; भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यञ्जन बनाने में, उनका आविष्कार करने में, अपना समय और शक्ति खर्च करता है। भूख के बढ़ाने, अधिक अन्न पेट में भरने आदि के नाना प्रकार के उपायों को खोजता है जैसा कि इटली के लोग करते थे। ×

ईसाई-धर्म के अनुसार न तो कभी विवाह हुआ है और न हो ही सकता है। क्योंकि धर्म विवाह की आज्ञा ही नहीं करता, जैसा कि वह धन-संचालन करने का भी आदेश नहीं करता। हाँ, इन दोनों का सदुपयोग करने पर अलबत्ता वह ज़ोर देता है।

× बिलकुल यही बात आज कृत्रिम उपायों द्वारा गर्भाधान को रोकने वाले लोग भी कर रहे हैं।

एक सच्चा ईसाई अपनी सम्पत्ति के विषय में इस तरह विचार करेगा—यद्यपि मैं अपने कुर्ते को अपना समझता हूं तथापि यदि कोई उसे मुझसे माँगे तो मैं अपना कुर्ता दूसरे को दे देना अवश्यक मानता हूँ। उसी प्रकार वह विवाह के विषय में भी सोचता है। उसका प्रयत्न दो दिशाओं में रहता है; एक तो अपने बच्चों को सुसंस्कृत करने की ओर, और दूसरे परस्पर को विकार रहित करने की ओर—अर्थात् शारीरिक प्रेम की बनिस्बत आध्यात्मिक प्रेम करने की ओर उसकी प्रवृत्ति अधिक होती है।

अगर आदमी केवल यह स्पष्ट रूप से समझ ले कि विषयोपभोग एक नैतिक पतन है, पाप है, और एक स्त्री के साथ किया हुआ पाप दूसरी स्त्री के साथ विवाह कर लेने पर धुल नहीं जाता, बल्कि वही एक अपरिवर्तनीय विवाह-बन्धन है, जो उसे पाप से मुक्त कर सकता है, तो अवश्य ही मनुष्य-जाति में संयम की मात्रा बढ़ जायगी।

जब मैं यह कहता हूँ कि विवाहित मनुष्य को अमुक-अमुक रीति से रहना चाहिए, तब मेरा उद्देश कदापि यह बतलाना या सिद्ध करना नहीं होता कि मैं खुद इस तरह से रहा हूँ या रह रहा हूँ; बल्कि इसके विपरीत मैं इस बात को अपने अनुभव से जानता हूँ कि मनुष्य को कैसे रहना चाहिए, क्योंकि मैं खुद इस तरह रहा हूँ, जैसे कि आदमी को न रहना चाहिए।

अतः अब तक मैं जो कुछ कह गया हूँ, इसमें से एक शब्द भी वापस लेना नहीं चाहता; बल्कि इसके विपरीत मैं उस पर और भी ज़ोर देना चाहूँगा। हाँ, उसके ज़रा समझा देने की अवश्य कुछ जरूरत

इसलिए है कि हमारा जीवन ईसा के बताये वास्तविक जीवन से इतना भिन्न और विपरीत है कि इस विषय में यदि हमें कोई सत्य-सत्य कह देता है तो हम सहसा चौंक उठते हैं। (मैं यह अपने अनुभव से कहता हूँ) इस तरह चौंकते हैं, जैसे कि वह धन बटोरने वाला बनिया चौंक पड़ता है, जिसे यह कह दिया जाय कि अपने परिवार के लिए या गिरजाघरों में घंटा लगाने के लिए × धन एकत्र करना पाप है, और जिस मनुष्य को पाप से छुटकारा पाने की इच्छा हो वह अपनी सारी धन-दौलत सत्पात्रों को दान कर दे।

इस विषय में मेरे जो विचार हैं वे बिना किसी प्रकार के क्रम की परवा किये, जैसे आते जा रहे हैं, लिखे देता हूँ।

प्रेम—वैषयिकप्रेम—एक ज़बरदस्त शक्ति है। यह दो भिन्न या असमान लिंग के व्यक्तियों में उत्पन्न होता है, जो सम्मिलित (विवाहित) नहीं हुए हैं। यह विवाह की ओर उन्हें ले जाता है। और विवाह का फल है—संतान। गर्भ के रहते ही पति और पत्नी के बीच का यह आकर्षण शिथिल हो जाता है। यह बिल्कुल स्पष्ट है। यह शिथिलता सम्मिलन के प्रति होने वाली उत्सुकता को मिटा देती है, जैसा कि अन्य प्राणियों में भी पाया जाता है। यदि पुरुष विषयोपभोग के लिए अपना अधिकार जताना छोड़ दे तो इसका बड़ा अच्छा परिणाम हो

× नित्य भले बुरे उपायों से धन एकत्र कर कई सेठ-साहूकार उसका एकाध नगण्य हिस्सा धर्म-कार्य में लगा देते हैं, और अपने को कृतार्थ मानते हैं। यही बात रूस के धनिक भी करते हैं।

सकता है। अब इस भोगौत्सुक्य का स्थान वह इच्छा लेती है, जो अक्सर माता-पिता के हृदय में संतान-वृद्धि के लिए होती है, जिसे हम दूसरे शब्दों में वत्सलता या सन्तान-प्रीति कह सकते हैं। यह तब तक बराबर रहती है, जब तक कि बच्चा दूध पीना नहीं छोड़ देता। तब फिर वही पारस्परिक प्रेमाकर्षण शुरू होता है।

यह है स्वाभाविक परिस्थिति। भले ही हम इस वास्तविक और प्राकृतिक अवस्था से कितनी ही दूर हों, पर होना चाहिए यही। इसका कारण सुनिए। सबसे पहले, गर्भावस्था में स्त्री दूसरा गर्भ धारण नहीं कर सकती। जब गर्भ धारण ही न हो तब तो विषयोपभोग के लिए सच पूछें तो मनुष्योचित विवेकयुक्त कारण ही नहीं रहता। वह तो नीच विषय-वासना की तृप्ति-मात्र कही जा सकती है, जो कि प्रत्येक विवेक-शील पुरुष की नज़र में अवश्य ही हेय है। वह तो एक घोर से घोर अनीति से भरा हुआ पाप है। जो मनुष्य इस पाप के अधीन अपने को कर देता है वह पशु से भी गया-बीता हो जाता है। क्योंकि यह तो पाप की तरक़्क़ी करने में अपनी बुद्धि का भी उपयोग करता है। दूसरे इस बात को तो प्रत्येक आदमी मानता है कि विषयोपभोग मनुष्य की शक्ति को हरण कर लेता है। और उस आध्यात्मिक शक्ति को हरता है जो सर्वश्रेष्ठ और सबसे अधिक आवश्यक है। इस आदत के कुछ समर्थक कहेंगे, कुछ नियमशीलता से क्यों न काम लिया जाय? पर बात यह होती है कि एक बार विवेक को छोड़ देने पर नियम का मनुष्य को ख़याल ही नहीं रहता। पर संभव है, यदि नियम या संयम से काम लिया जाय तो आदमी को इतना नुक़सान न उठाना पड़े (राम राम!

इस पाशविकता को हम संयम कह भी सकते हैं ?) । पर भाई, पुरुष का यह संयम उस बेचारी स्त्री के लिए घोर दुःखदायी असंयम साबित होता है, जो या तो गर्भवती होती है या बच्चे को दूध पिलाती है ।

मेरा खयाल है कि स्त्रियों के पिछड़ने और उनके चिड़चिड़ेपन का भी यही प्रधान कारण है । इससे स्त्रियों को छुड़ाकर उनकी मुक्ति करने की ज़रूरत है । पुरुषों के साथ उनका ऐक्य हो जाना आवश्यक है । शैतान की नहीं, परमात्मा की सेविका उन्हें बना देना ज़रूरी है । यह एक दूरवर्ती आदर्श है, पर है महान् । और क्यों न मनुष्य इसके लिए प्रयत्न करे !

मैं सोचता हूँ कि विवाह इस तरह का हो । स्त्री और पुरुष तभी एकत्र हों, जब प्रेम के द्वारा वे इस तरह आकर्षित हो जायँ कि उनके लिए अलग-अलग रहना असम्भव हो जाय । बच्चा पैदा होने पर वे उन तमाम प्रलोभनों और शारीरिक आकर्षणों से दूर रहें, जो उनके बच्चे के संवर्धन में हानिकर प्रतीत हों । आजकल की तरह उलटे कृत्रिम प्रलोभनों को पैदा न करें, बल्कि आपस में भाई बहन की तरह रहें ।

आजकल तो यह होता है । पहले ही से बिगड़ा हुआ पति अपनी बुरी आदतें अपनी पत्नी में उत्पन्न कर देता है । उसी वैषयिकता के विष से वह अपनी पत्नी को विषाक्त कर देता है और उसपर एकसाथ ही अपनी दासी, श्रान्त माता और बीमार, चिड़चिड़ी तथा पगली स्त्री होने का असह्य बोझ डाल देता है । पति उसे, अपना स्त्री की हैसियत से, उसकी लापरवाही और अपने ही उत्पन्न किये उसके चिड़चिड़ेपन तथा पागलपन के लिए उसको कोसता है । मेरा खयाल है कि अधि-

कांश परिवारों में जो असीम कष्ट देखा जाता है, उसका यही मूल कारण है । इसीलिए मैं पति-पत्नी के भाई-बहन की तरह रहने की कल्पना करता हूँ । स्त्री शान्ति के साथ अपने बालक को जन्म दे, नियमित रूप से उसका अच्छी तरह पोषण करे, और साथ ही उसे कुछ-कुछ नैतिक शिक्षा भी देती रहे । केवल स्वाधीन और उपयोगी समय में ही वे एक दूसरे के साथ एकान्त में मिलें और फिर उसी प्रकार शान्तिमय जीवन व्यतीत करें ।

मुझे मालूम होता है कि प्यार करना भी एक प्रकार का भाफ का दबाव है, वाल्व तभी खुलती है, जब उसपर भारी वज़न पड़ता है । अन्य समय वह मजबूती से बन्द रहती है । हमारा उद्देश्य भी यह हो कि हम उसे जान-बूझकर बन्द रक्खे रहें । और उसे आसानी से खुलने न देने के लिए उसपर खूब वज़न रख दें । मैं उन शब्दों को इस अर्थ में समझता हूँ कि जो इसको प्राप्त कर सकता है, करे । (मेथ्यू १८ अध्याय पद्य १२) अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को कोशिश करनी चाहिए कि वह अविवाहित रहे । पर विवाह कर लेने पर वह अपनी पत्नी के साथ बहन का सा व्यवहार रक्खे । भाफ़ ज़रूर ही इकठ्ठी होगी । वाल्व उठेगी । पर हमें स्वयं ही न खोलना चाहिए, जैसा कि विषयोपभोग को क़ानूनी अधिकार समझने वाला आदमी करता है । वह तभी क्षम्य है, जब हम उसका संयम न कर सकें—जब वह हमारी इच्छा के विपरीत टूट पड़ता है ।

पर मनुष्य इस बात का निर्णय कैसे करे कि अब वह अपने को रोक नहीं सकता ?

न जाने कितने ऐसे सवाल हैं, और वे कठिन मालूम होते हैं। पर साथ ही जब मनुष्य उनको अपने लिए, दूसरों के लिए नहीं, हल करने को बैठता है, तब वे उसे इतने कठिन नहीं मालूम होते, जितने कि वह उन्हें पहले समझे हुए था। दूसरे के लिए तो उस क्रम से चलना होगा, जो कि पहले बता दिया गया है। एक वृद्ध मनुष्य एक वेश्या से प्रीति जोड़ता है; उसमें एक भयङ्कर बुराई है। वही बात एक जवान आदमी करता है। यह उतनी बुरी बात नहीं। एक वृद्ध पुरुष का अपनी पत्नी से काम-चेष्टायें करना उतना बुरा नहीं, जितना कि एक युवा पुरुष का एक वेश्या के साथ वैसी चेष्टायें करना है; उसका अपनी स्त्री के साथ काम-चेष्टायें करना उतना बुरा नहीं, जितना कि वही काम एक वृद्ध पुरुष के लिए होगा। हाँ, बुरा तो ज़रूर है। इस तरह न्यूनाधिकता सबके विषय में होती है। इसे हम सभी जानते हैं। निर्दोष बच्चों और लड़कों के लिए भी एक ख़ास तुलना की नाप होती है। पर स्वयं अपने लिए जुदी बात है। प्रत्येक ब्रह्मचारी पुरुष और स्त्री के मन में इस कल्पना का अस्तित्व होता है, यद्यपि वह झूठी धारणाओं द्वारा दबी रहती है, कि पवित्रता की रक्षा करनी चाहिए। और इस कल्पना की पूर्ति में तथा किसी भी हालत में, विकलता में, उसे बराबर हर्ष या शोक होता रहता है।

अन्तरात्मा की आवाज़ बाद में और हमेशा यह बराबर कहती रहती है कि वह बुरा है—लज्जास्पद है। (यह तो अनुभूति और समझ पर अवलम्बित है)

संसार में विषय-सुख बहुत अच्छा समझा गया है, जैसे कि सेफ्टी वाल्व को खोलकर भाफ़ के छोड़ देने को लोग समझ सकते हैं। पर-

मात्मा के नियम के अनुसार तो सच्चा जीवन व्यतीत करना ही अच्छा है। हम अपनी बुद्धि को, परमात्मा के लिए ही खर्च करें। अर्थात् मनुष्यों को, उनकी आत्माओं को और उनमें भी सबसे नज़दीक अपनी पत्नी को प्यार करें। उसे अपने विकारों की दासी बना कर उसकी ज्ञानेन्द्रियों को कुंठित न करें। अर्थात् भाफ का सदुपयोग करें और उसे निकालने के तमाम रास्तों को टालते रहें, रोकते रहें।

पर इस तरह तो मनुष्य-जाति का अंत हो जायगा?

सबसे पहले, मनुष्य चाहे कितना ही विषयोपभोग को टालने की कोशिश करता रहे, जब तक उसकी आवश्यकता होगी, सेफ्टी वाल्व बनी ही रहेगी और बच्चे पैदा होते रहेंगे। पर हम झूठ क्यों बोलें? जब हम विषय-सुखों का समर्थन करते हैं तब क्या सचमुच हमें मनुष्य-जाति के मिट जाने का डर होता है? हम तो अपने सुख की बात सोचते हैं। और वही हमें करना भी चाहिए। मनुष्य-जाति मिट जायगी? नरपशु संसार से उठ जायगा? राम राम! कितनी भयङ्कर बात है! प्रलय-विरोधी प्राणी नष्ट हो गये। उसी प्रकार नर-पशु भी मिट जायगा। (यदि हम अनंतकाल और स्थान का विचार करें तो) भले ही मिट जाय न। मुझे इन दो पैर के पशुओं के संसार से मिट जाने पर कोई दुःख न होगा, जब तक कि संसार में सच्चा जीवन, सच्चा प्रेम करने वालों का प्रेम, नहीं नष्ट हो जाता। यदि विषय-लालसा को छोड़ देने के कारण मनुष्य-जाति नष्ट हो जाय तो भी यह सच्चा प्रेम तो कदापि नष्ट नहीं हो सकता। वह तो इतना बढ़ जायगा कि इस प्रेम के मानने वालों

के लिए मनुष्य जाति का बने रहना एक अनावश्यक बात हो जायगी। वे उसके रहने- मिटने की परवाह ही न करेंगे।

शारीरिक प्रेम की आवश्यकता केवल इसीलिए है कि यदि वह नष्ट हो जाय तो उन उच्च नरपुंगवों के पैदा होने की संभावना भी नष्ट हो जाय, जो मनुष्य-जाति को प्रेम की इस चरमसीमा तक लेजा सकते हैं।

इन सब अस्त-व्यस्त विचारों को पढ़ जाओ और सोचो कि मैं क्या कहना चाहता था और मैंने क्या नहीं कहा। ये विचार यों ही संयोगवश मेरे दिमाग़ में नहीं आये हैं। मेरे जीवन-अनुभव के सागर में धीरे निर्माण हुए वे मोती हैं, यदि परमात्मा चाहेगा तो मैं उन्हें और भी स्पष्टता के साथ और व्यवस्थित रूप में प्रकाशित करने की कोशिश करूँगा।

* * *

सभी पशु विषयोपभोग करते हैं, जब सन्तान-उत्पत्ति की सम्भावना हो। पर सभ्य मनुष्य भी विषयोपभोग हमेशा करता है। बल्कि उसने यह आविष्कार किया है कि ऐसा करना आवश्यक है। इसके द्वारा वह अपनी गर्भवती या मातृधर्म-रता पत्नी को सताता है और विषय-वासना तृप्त करने पर मजबूर करता है। पत्नीत्व और मातृत्व दोनों धर्मों का पालन एक साथ करने में बेचारी मर मिटती है। बस इस तरह हमने स्त्रियों के मृदुल, शांत, और मीठे स्वभाव को अपने हाथों बिगाड़ डाला है। फिर ख्वामख्वाह उनकी विचार हीनता की शिकायत करते हैं या उनके मानसिक विकास के लिए किताबों या विद्यापीठों की सहायता की इच्छा
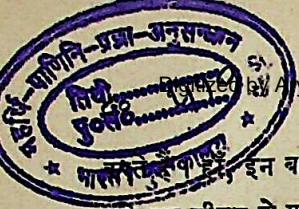
[illegible] हैं, इन बातों में नर-पशु अन्य पशुओं से भी गया बीता है। उसे पशु-जीवन के सतह पर पहले आना चाहिए। यह तभी होगा, जब वह ज्ञान-पूर्वक प्रयत्न करेगा। अन्यथा उसकी बुद्धि का उपयोग तो अपने जीवन को और भी अधिक नष्ट करने की ओर होता रहेगा।

स्त्री और पुरुष को कितना विषयोपभोग करना चाहिए। किस हद तक वह जायज़ है ? यह असली ईसाई-धर्म में एक बड़ा ही महत्वपूर्ण सवाल है। और वह हमेशा मेरे दिमाग में बना रहता है। पर अन्य प्रश्नों की भाँति धर्म-ग्रन्थ में उसका उत्तर साफ़-साफ़ लिखा हुआ है। ईसा ने इसको स्पष्ट कर दिया है। पर हम उस पर अमल ही नहीं करते; बल्कि यों कहना चाहिए कि भली भाँति उसे समझ भी नहीं पाते। देखिए मैथ्यू के प्रवचन के उन्नीसवें अध्याय में लिखा है—"सभी आदमी इसे नहीं ग्रहण कर सकते। केवल वे ही ग्रहण कर सकते हैं जिन्हें कि वह दिया गया है। क्योंकि संसार में कई जन्मजात नपुंसक हैं। पर कई ऐसे नपुंसक भी हैं जिन्होने अपने को स्वर्गीय राज्य की प्राप्ति के लिए ऐसा बना रक्खा है। जो उसको ग्रहण कर सकता हो करे।" (पद्य ११ और १२)

इन पद्यों का बहुत ग़लत अर्थ लगाया गया है। पर इसमें यह साफ़-साफ़ लिखा है कि मनुष्य को अपने विषय में क्या करना चाहिए। उसे किस तरफ़ बढ़ने की कोशिश करनी चाहिए ? आधुनिक भाषा में कहना चाहें तो उसका आदर्श क्या हो ? उत्तर है "स्वर्गीय राज्य की प्राप्ति के लिए नपुंसक बन जाय।" जिसने यह प्राप्त कर लिया है उसने संसार की सर्व श्रेष्ठ वस्तु को प्राप्त कर लिया, पर जो इसे

प्राप्त नहीं कर सका है, उसे भी चाहिए कि इसके लिए कोशिश करे। जो इसे ग्रहण कर सकता है, करे।

मेरा ख्याल है कि मनुष्य को अपने पारस्परिक कल्याण के लिए सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन की कोशिश करनी चाहिए। दोनों को ज्ञान पूर्वक ब्रह्मचर्य के पालन में प्रत्यक्षरूप से प्रयत्नशील होना चाहिए। तब वे उसी लाभ को प्राप्त करेंगे जो कि उनको होना चाहिए। लक्ष्य पर ठीक निशाना लगाने के लिए बाण उसके ज़रा ऊपर छोड़ना पड़ता है। यदि मनुष्य विवाहित जीवन के विषयोपभोग को भी अपने जीवन का लक्ष्य बना लेगा तो वह उससे नीचे गिर जायगा। यदि आदमी पेट के लिए नहीं बल्कि आत्मा के लिए जीने की कोशिश करेगा तो वह फिसलते फिसलते कहीं मामूली जीवन पर आकर ठहरेगा। पर यदि वह पहले ही से जिह्वालोलुप हो जायगा तो उसका पतन निश्चित है।

* * *

विवाहित जीवन के विषय में मैंने बहुत कुछ सोचा है और सोचता रहता हूं। किसी भी विषय पर जब मैं गंभीरता से विचार करने लगता हूँ, तब यही होता है। मुझे बाहर से भी प्रेरणा होती है।

परसों मुझे अमेरिका की स्त्री डाक्टर श्री अलाइस स्टॉकहम एम० डी० की लिखी एक पुस्तक डाक द्वारा मिली। पुस्तक का नाम था—"टॉकोलाजी"—"हर एक स्त्री की किताब।" स्वास्थ्य की दृष्टि से किताब उत्कृष्ट है। जिस विषय पर इतने दिनों से हमारा पत्र-व्यवहार चल रहा है उस पर भी उसने एक अध्याय में विचार किया है और ठीक उसी नतीजे पर पहुँची है जिस पर कि हम पहुंचे हैं। जब आदमी

अँधेरे में होता है और उसे एकाएक कहीं से प्रकाश दिख जाता है तो उसे बड़ा आनन्द होता है। यह याद आते ही मुझे बड़ा दुःख होता है कि मैंने एक पशु की तरह अपना जीवन बिताया है। पर अब उसका क्या किया जा सकता है? दुःख इसलिए होता है कि लोग तो यही न कहेंगे—"अब क़बर में जाने के दिन आये तब तो बड़ी-बड़ी ज्ञान की बातें करने लग गये। पर आप का पूर्वजीवन कैसा था? जब हम बूढ़े हो जायेंगे, तब हम भी यही कहेंगे।" यही आपका पुरस्कार है। मनुष्य की अन्तरात्मा कहती है कि अब मैं गया बीता हूं। परमात्मा के पवित्र संदेश को उसके पुत्रों को सुनाने के लिए मैं सर्वथा अयोग्य हूँ। पर यह विचार आते ही समाधान हो जाता है कि खैर, इससे दूसरों का तो कल्याण होगा। परमात्मा तुम्हारा और सब का कल्याण करें।

* * *

"अन्तिम कथन" के विषय में विचार करते हुए मैं सोचता था कि विवाह के पहले ये मानी थे, पत्नी को अपनी सम्पत्ति के तौर पर प्राप्त करना। फिर युद्ध या डाके डालकर भी स्त्री प्राप्त की जाती थी। मनुष्य ने स्त्री के विषय में किसी प्रकार का विचार नहीं किया। उसे केवल अपनी विषय-वासना को तृप्त करने का एक साधन मात्र समझा। बादशाहों के ज़नानखाने क्या हैं? इसीके जीते-जागते उदाहरण! एकगामी होने पर स्त्रियों की संख्या ज़रूर घट गई, पर उनके सम्बन्ध में पुरुष के चित्त में जो ग़लत कल्पना थी, वह नहीं गई। यथार्थ में सम्बन्ध ठीक इसके विपरीत है। पुरुष हमेशा विषयोपभोग के योग्य रहता है और हमेशा इन्कार भी कर सकता है। पर स्त्री, जब कि वह

कुमार अवस्था को पार कर जाती है, और जब कि उसकी प्रकृति पुरुष संयोग की चाह करती है तब उसे अपने को रोकने में बड़ा कष्ट होता है। पर इतनी प्रबल इच्छा उसे दो-दो साल में शायद एक-एक बार ही होती है। इसलिए अपनी विषय-वासना को तृप्त करने का यदि किसी को अधिकार हो तो वह पुरुष को कदापि नहीं, स्त्री को ही है। स्त्री के लिए विषय-वासना की तृप्ति एक मामूली आनन्द नहीं है, जैसा कि पुरुष के लिए है। बल्कि वह तो उसके दुःख के हाथों में अपने को सौंप देती है। उसका विषयोपभोग भावी दुःख कष्ट और यातनाओं से लदा हुआ होता है। मैं सोचता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य इसी दृष्टि से विवाह का विचार करे। वे आपस में एक दूसरे के प्रति प्रामाणिक रहने की प्रतिज्ञा करें। ब्रह्मचर्य के पालन की कोशिश करें और यदि कहीं इसका भङ्ग ही होने का अवसर आवे तो वह पुरुष की इच्छा के कारण नहीं, स्त्री के प्रार्थना करने पर ही हो।

तुम अपने बच्चों के पिता से अपील करना नहीं चाहती? यह विचार ग़लत है। तुम लिखती हो—'मैं न चाहती हूँ और न अपील कर ही सकती हूँ। पर स्त्री और पुरुष का वह सम्बन्ध अटूट है जिनके कारण उन्हें बच्चे पैदा हो जाते हैं। भले ही पादरियों के पञ्चों का संस्कार उन पर हुआ हो या न भी हुआ हो। इसलिए तुम्हारे बच्चों का पिता विवाहित हो या अविवाहित, भला हो या बुरा हो, उसने तुम्हारा अपमान किया हो या न भी किया हो, मेरा ख़याल है कि तुम्हें उसके पास जाना चाहिए और यदि उसने लापरवाही की है तो उसे अपने कर्तव्य का परिज्ञान करा देना चाहिए। यदि वह तुम्हारी प्रार्थना पर विचार न करे,

तुम्हें झिड़क दे, तुम्हारा अपमान करे तो भी तुम अपने-अपने बच्चों के और परमात्मा के नज़दीक इस बात के लिए ज़िम्मेदार हो कि तुम उसे फिर हर तरह समझाने की कोशिश करो कि वह अपने भले के लिए अपने कर्तव्य का पालन करे। हां, जाओ, जरूर जाओ, प्यार के साथ, ज़ोर के साथ, युक्तिपूर्वक, मधुरता से उसे समझाओ, जैसा कि उस विधवा ने समझाया, जिसका ज़िक्र हमारे धर्म-ग्रन्थ में आया हुआ है। यह मेरा प्रामाणिक विचार और चिन्तनपूर्वक दिया हुआ मत है। तुम चाहे इसका अनुसरण करो या इस पर ध्यान न दो। तुम पर इसे प्रकट कर देना मैंने अपना धर्म समझा है।

* * *

आध्यात्मिक आकर्षण से शून्य स्त्री-पुरुषों का शारीरिक संयम परमात्मा का अपने सत्य को प्रकट करने का प्रयोग है। इस संयम द्वारा वह कसौटी पर चढ़ता है और मज़बूत होता है। यदि वह कमज़ोर होता है तो उसका प्रकाश शनैः-शनैः बढ़ जाता है।

* * *

मुझे तुम्हारा पत्र मिला। उसमें लिखी शङ्काओं का बड़ी खुशी के साथ समाधान करूँगा। ये शङ्कायें हमारे दिल में कई बार पैदा होती हैं और वैसी ही रह जाती हैं।

ओल्ड टेस्टामेन्ट और गॉस्पेल में लिखा है कि पति और पत्नी दो नहीं एक ही प्राणी हैं। यह सत्य है। इसलिए नहीं कि वे परमात्मा के वचन समझे जाते हैं, पर वह इस असंदिग्ध सत्य का समर्थन करता है कि स्त्री-पुरुषों का संयोग अवश्य ही विशेष रहस्य-पूर्ण और अन्य संयोगों

में भिन्न होगा कि जिसके फल स्वरूप एक नवीन प्राणी पैदा होता है। एक खास अर्थ में वे दोनों अपनी भिन्नता को भूल जाते हैं, एक हो जाते हैं।

इसलिए मैं कहता हूँ कि इस रहस्यपूर्ण रीति से जो अभिन्न बन गये हैं, उनको संयमशील जीवन के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील रहना चाहिए। इनमें से जिस किसी के विचार अधिक सुसंस्कृत हैं वह दूसरे की हर तरह से शक्तिभर सहायता करे। सादा जीवन, अपने प्रत्यक्ष उदाहरण और उपदेशों द्वारा कोशिश करे। पर जब तक दोनों के हृदय में इस पवित्र इच्छा का उदय नहीं होता दोनों अपने संयुक्त जीवन के पापों के बोझ को उठावें।

अपनी विकारवशता के कारण हम कई बार ऐसे बुरे-बुरे काम कर डालते हैं जिनकी याद आते ही हमारी अन्तरात्मा काँप जाती है। उसी प्रकार यदि हम अपने आपका पृथक् विचार न कर, बल्कि विवाहित जीवन के—संयुक्त जीवन के—उत्तरदायित्व का ही विचार करें तो कई बार इसमें भी हम ऐसे-ऐसे काम कर जाते हैं जो हमारी व्यक्तिगत आत्मा के सर्वथा प्रतिकूल, नहीं घोर रूप से निन्दनीय होते हैं। बात यह है कि व्यक्तिगत जीवन की भाँति ही मनुष्य को अपने संयुक्त विवाहित जीवन में भी सावधानी पूर्वक रहना चाहिए। कभी पाप की उपेक्षा न करनी चाहिए। बस, एकसा अपनी कमज़ोरियों से झगड़ते रहना चाहिए।

तुम्हारा यह कहना ठीक हैं कि मनुष्य परमात्मा की प्रतिमा है, इसलिए उसे अपने इस पवित्र शरीर को किसी पापाचरण द्वारा कलङ्कित न करना चाहिए। पर यह उस संयुक्त जीवन पर नहीं घटाया जा सकता

जिससे या तो बच्चे पैदा हो गये हैं या इसकी सम्भावना है। सन्तानोत्पत्ति और उनका पालन-पोषण से इस सम्बन्ध के अनौचित्य और बोझ को अधिकांश में नष्ट कर देता है। इसके अतिरिक्त गर्भावस्था और शिशु-संवर्धन की तपस्या उस पाप को साफ़-साफ़ धो डालती है।

यह प्रश्न करना हमारा काम नहीं है कि बच्चों का पैदा होना अच्छी बात है या बुरी। जिसने पवित्रता के भङ्ग के पाप को धोने का यह उपाय बताया, वह अपने काम को भली भाँति जानता था।

ज़रा क्षमा करना, यदि मैं तुम्हें कोई अप्रिय बात कह दूँ। तुम कहते हो कि सन्तानोत्पत्ति से आदमी अधिकाधिक कमज़ोर हो जाता है ठीक है। पर तुम्हारा यह खयाल अत्यन्त निष्ठुर और स्वार्थमय है। संसार में खुशमिज़ाज और केवल आनन्दी रहने के लिए ही नहीं आये हो, बल्कि अपने काम को पूर्ण करने के लिए भेजे गये हो। अपने आन्तरिक जीवन सम्बन्धी महत्वपूर्ण कामों के अतिरिक्त तुम्हारा सबसे महत्वपूर्ण काम यह है कि तुम अपने पति की पवित्रता की ओर बढ़ने में सहायता करो। यदि इस विषय में तुम उससे आगे बढ़ी हुई हो तो तुम्हारा यही कर्तव्य है। यदि तुमने खुद ही अपने सुपुर्द किये हुए कार्य को नहीं किया है तो तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम संसार को ऐसे अन्य प्राणी दो जो उस कर्तव्य को पूरा कर सकें।

दूसरे विवाहित व्यक्तियों के बीच कोई सम्बन्ध है तो यह आवश्यक है कि वे दोनों उनमें से भाग लें। यदि उनमें से एक अधिक विकारमय है तो दूसरे को स्वभावतः यह मालूम होगा कि वह सम्पूर्ण रूप से पवित्र है। पर यह सोचना ग़लत है।

तुम्हारा अपने विषय में यह सोचना भी मेरे खयाल से ग़लत मालूम होता है। केवल अपना पाप तुम्हें दिखाई नहीं देता जो दूसरे के प्रकट पाप के पीछे छिप जाता है। यदि इस विषय में तुम अधिक पवित्र होती तो तुम अपने पति की विकार तृप्ति के विषय में अधिक उदासीन दिखाई देती। तुम उसके साथ ईर्ष्या नहीं करती। बल्कि उसकी कमज़ोरी पर तुम्हें तरस आती। पर यह बात नहीं है।

यदि तुम मुझसे पूछना चाहो कि मुझे क्या करना चाहिए? तो मैं तुम्हें यही सलाह दूँगा कि एक ऐसा मौका ढूंढ निकालो, जब तुम्हारा पति बहुत प्रसन्न हो, तुम पर खूब प्यार दिखा रहा हो और उसे फिर बड़ी मधुरता और अत्यन्त नम्रता के साथ विनयपूर्वक समझाओ कि उसकी विकार तृप्ति की चेष्टायें तुम्हारे लिए कितनी दुखदायी हैं। उसे समझाओ कि तुम उनसे अपना छुटकारा चाहती हो। यदि वह इसे मंजूर न करे (जैसा कि तुम लिखती हो) तो उसकी इच्छा के वश हो जाओ, यदि तुम्हें परमात्मा बच्चे दे तो उनका स्वागत करो। पर गर्भावस्था और शिशु-संवर्धन के समय में तो जरूर अपने पति से कहो कि वह तुम से दूर रहें। इसके बाद यदि वह फिर विषय-तृप्ति चाहे तो फिर उसकी बात मान लो। बस, फिर आगे की चिन्ता करना छोड़ दो। परमात्मा तुम्हारा कल्याण ही करेगा।

ऐसा करने से तुम्हारे, तुम्हारे पति और उन बच्चों के लिए सिवा कल्याण के कुछ हो ही नहीं सकता। क्योंकि ऐसा करने से तुम अपने सुख की साधना नहीं करोगी, बल्कि परमात्मा की इच्छा के सामने अपना सर झुकाओगी।

यदि इसमें तुम्हें कोई ग़लत सलाह दिखाई दे तो मुझे क्षमा करना। परमात्मा को साक्षी रखकर, मैंने वही लिखने का प्रयत्न किया है जैसा कि मैं अपने जीवन में रहा हूँ और जैसा कि मैंने इस विषय में अब तक सोचा है।

* * *

पति और पत्नि के बीच यदि कुछ अप्रियता उत्पन्न हो जाय तो वह नम्रता से ही दूर हो सकती है। सीते वक्त धागा यदि उलझ जाता है तो उलझन की प्रत्येक गुत्थी के अन्दर से शान्ति पूर्वक रील को निकालते जाने ही से वह सुलझ सकती है।

* * *

मालूम होता है वह अपने विवाहित जीवन से एक स्पृहणीय न्याय कर्म से असंतुष्ट है। मैं चाहता हूँ कि ऐसा न हो तो अच्छा। निश्चय-पूर्वक समझो कि बाहरी बातें पूर्णतया कभी अच्छी नहीं होतीं। यदि एक अविवेकपूर्ण मनुष्य का एक देवी के साथ विवाह हो तो वे दोनों एक दूसरे से असंतुष्ट होंगे। और अपने विवाह से असंतुष्ट रहने वाले कई लोग, नहीं प्रायः सभी, यही मानते हैं कि उनकी सी बुरी अवस्था किसी की न होगी। इसलिए सबकी अवस्था एक सी होती है।

यदि तू स्त्री को—यद्यपि वह तेरी पत्नी है, एक आनन्ददायक सुख-सामग्री समझता है तो तू व्यभिचार करता है। शारीरिक परिश्रम के कानून की पूर्ति के अनुसार वैवाहिक सम्बन्ध के मानी हैं एक भागीदार या उत्तराधिकारी का प्राप्त करना। वह स्वार्थमय आनंद से युक्त रहता है। पर विषयानन्द के खयाल से तो वह पतन है।

बाग़वान की स्त्री को फिर एक बच्चा हुआ है। फिर वह बूढ़ी दाई आई और बच्चे को ले गई, परमात्मा जाने कहां!

प्रत्येक मनुष्य को भयंकर असन्तोष हो रहा है। सन्तति-निरोध के उपायों के अवलम्बन की इतनी परवाह मुझे नहीं है। पर यह तो एक ऐसी बुराई है कि उसके धिक्कारने योग्य मुझे कोई शब्द ही ढूंढे नहीं मिलते।

आज पता लगा है कि दाई उस बच्चे को लौटा गई है। रास्ते में उसे अन्य स्त्रियाँ मिलीं जिनके पास ऐसे ही बच्चे थे इनमें से एक बच्चे के मुँह में कोई खाने की चीज़ रक्खी हुई थी। मुँह में वह बहुत गहरी उतरी हुई थी। बच्चे के कंठ में वह अटक गई और वह दम घुटने से मर गया। मास्को के अनाथालय में एक ही दिन में ऐसे पच्चीस बच्चे गये थे जो या तो अनाथ न थे या बीमार थे।

एन्० आज सुबह बाग़वान की औरत को फटकार सुनाने के लिए गया था। उसने अपने पति का बड़े जोरों से समर्थन करते हुए कहा कि अपने जीवन की वर्तमान अनिश्चितता और ग़रीबी के कारण वह अपने बच्चों का पालन-पोषण करने में असमर्थ थी। एक शब्द में कहना चाहें तो बच्चों को रखना उसके लिए बड़ा 'असुविधा-जनक' था।

अभी, अभी तक तीन अनाथ बच्चे मेरे पास रहते थे। बच्चों की पैदायश बेहद बढ़ गई है।

बेचारे शराबखोर, बीमार, और जंगली बनने के लिए पैदा होते और बढ़ते हैं।

लोग भी बड़े बेढब हैं। वे भी एक ही साथ बच्चों और मनुष्यों की जान बचाने और नष्ट करने के उपायों को खोजते रहते हैं। पर इतने बच्चे वे पैदा ही क्यों करते हैं ?

मनुष्य को चाहिए कि वे बच्चों को या मनुष्य को मारें नहीं, न उन्हें पालन करना बन्द करें। बल्कि वे अपनी तमाम शक्ति जंगली मनुष्यों को सच्चे मनुष्य बनाने में लगा दें। बस, केवल यही एक बात अच्छी है। और यह काम शब्दों से नहीं, अपने प्रत्यक्ष उदाहरण द्वारा ही हो सकता है।

* * *

यदि उनका पतन हो जाय तो वे समझ लें इस पाप से मुक्त होने के केवल दो ही उपाय हैं—(१) अपने को विकार-रहित बनावें और (२) बच्चों को सुसंस्कृत कर उन्हें ईश्वर के सच्चे सेवक बनावें।

* * *

प्यारे एम० और एन० मुझे तुम्हारे विवाह पर बड़ा आनन्द हो रहा है। परमात्मा तुम्हें सुख-शान्ति और निर्मल प्यार दे। बस, इससे अधिक की तुम्हें आवश्यकता ही नहीं। पर प्यारे मित्रो, क्षमा करना। मैं तुम्हें सावधान करने से अपने आपको रोक नहीं सकता। दोनों खूब सावधान रहना। अपने पारस्परिक सम्बन्ध में खूब सावधान रहना, कहीं तुम्हारे अन्दर चिड़चिड़ाहट और एक दूसरे से अलग होने की वृत्ति न घुसने पावे। एक शरीर और एक आत्मा होना कोई आसान बात नहीं है। मनुष्य को खूब प्रयत्न करना चाहिए। फल भी महान् होगा। उपाय यदि पूछो तो मैं तो केवल एक ही जानता हूँ।

अपने वैवाहिक प्रेम को पारस्परिक और स्वाभाविक प्रेम पर कभी प्रभुत्व न जनाने देना—दोनों एक दूसरे के मनुष्योचित अधिकारों का खूब खयाल रखना। पति-पत्नि का सम्बन्ध ज़रूर रहे; पर जैसा मनुष्य एक अपरिचित आदमी या एक पड़ौसी के साथ, जो सज्जनोचित बर्ताव और आदर-सम्मान करता है वही तुम्हारे बीच भी हो। यही सत्सम्बन्ध की बुनियाद है।

* * *

एक दूसरे के प्रति आसक्ति को न बढ़ाओ। बल्कि अपनी तमाम शक्ति से अपने पारस्परिक सम्बन्ध में सावधानी, तथा विचारशीलता बढ़ाओ, जिससे तुम्हारे बीच कटुता न उत्पन्न हो। बात-बात पर झगड़ना बड़ी भयङ्कर आदत है। पति-पत्नी को छोड़ और किसी सम्बन्ध में इतनी सर्वाङ्गीण घनिष्ठता नहीं होती और इसलिए सब से ज़्यादा एहतियात की भी आवश्यकता है। इस घनिष्ठता ही के कारण हम अक्सर उस पर विचार करना भूल जाते हैं; जिस प्रकार अपने शरीर के विषय में हम सावधानी रखना भूल जाते हैं; और यही बुराई की जड़ है।

* * *

एक विवाहित दम्पती के लिए उपन्यासों के वर्णनों के अथवा अपनी हार्दिक इच्छा के अनुसार सुखी होने के लिए वैसा ही मेल होना आवश्यक है। पर यह तभी हो सकता है जब विश्व-जीवन का ध्येय और बच्चों के सम्बन्ध में उनके विचारों में एकता हो। पति-पत्नी का विचार, ज्ञान, रुचि और संस्कृति एक-सी होना एक असम्भव-सी बात है। अतः सुख तो उन्हें तभी प्राप्त हो सकता है जब दो में से एक अपने विचारों को दूसरे के विचारों के सामने गौण समझ ले।

पर यही तो मुख्य कठिनाई है। उच्च विचार वाला पुरुष या स्त्री निम्न विचार वाले के सामने अपने विचारों को गौण नहीं समझ सकता, चाहे वह इस बात को दिल से भी चाहता हो। मेल के लिए आदमी अपना खाना छोड़ सकता है, नींद कम कर सकता है, कठिन परिश्रम कर सकता है, पर वह नहीं कर सकता जो उसके विचार में ग़लत, अनुचित और विचारहीन ही नहीं बल्कि विचार, सदाचार और सिद्धान्त के विपरीत हो। निःसन्देह दोनों के दिल में यह भाव होता है कि उनका जीवन पारस्परिक मेल के आधार पर ही सुखी हो सकता है; दोनों इस बात को भी जानते हैं कि उनके बच्चों की शिक्षा भी इसी विचार की एकता के ऊपर निर्भर है; परन्तु फिर भी एक स्त्री अपने पति की शराबखोरी या जुआखोरी से कभी सहमत नहीं हो सकती, और न एक पति इस बात को मंजूर कर सकता है कि उसकी पत्नी नाच-गान में बार-बार शरीक होती रहे या उसके बच्चों को नाचना-कूदना या ऐसी ही वाहियात बातें सिखलाई जायँ।

संयुक्त-जीवन सुखमय तथा कल्याण-रूप बनाने के लिए यह आवश्यक है कि जो अपने को दूसरे की अपेक्षा कम सुसंस्कृत देखने और दूसरे की श्रेष्ठता को अनुभव करने वाला हो फिर वह पुरुष हो या स्त्री वह खाने-पीने-पहनने आदि गृह-व्यवस्था-सम्बन्धी बातों में ही नहीं, बल्कि जीवन के विशेष महत्वपूर्ण प्रश्नों-आदर्शों आदि के विषय में भी अपने से उच्चतर विचार रखने वाले व्यक्ति के—फिर वह पति हो या पत्नी—आदर्शों को ही प्रधानता दे।

क्योंकि पति, पत्नी, बच्चे और समस्त परिवार के सच्चे कल्याण के लिए मधुर मेल का होना परम आवश्यक है। उनकी अनबन और झगड़े, उनके तथा बच्चों के लिए, एक विपत्ति है और दूसरों के कार्य में विघ्न। और इसे टालने के लिए केवल एक बात की जरूरत है-दो में से कोई इस बात को मान लें।

मेरा खयाल है कि जब दो में से कोई इस बात को महसूस करने लगता है कि दूसरा उससे श्रेष्ठ है, तब उसे उसके विचार और निर्णयों को प्रधानता देना अपने आप आसान हो जाता है—यहां तक कि जब कभी हम इसके विपरीत आचरण देखते हैं तो हमें बड़ा आश्चर्य होता है।

* * *

विवाहित दम्पति के जीवन और व्यावहारिक विचारों में प्रेम न हो तो कम सोचने वाले को चाहिए कि अधिक सोचने वाले के विचारों को प्रधानता दें।

मनुष्य को चाहिए कि वह मानवता और परिवार की सेवा को एकरूप कर ले। दोनों की सेवा में अपना समय विभक्त करके बेमन से नहीं बल्कि अपने परिवार की सेवा करके मनुष्य-जाति की सेवा करें। अपने परिवार के व्यक्तियों को और बच्चों को सुशिक्षित बनाकर मनुष्य जाति की आदर्श सेवा करे। सच्चा विवाह, जिसका फल सन्तानोत्पत्ति होता है, परमात्मा की अप्रत्यक्ष सेवा ही है। इसलिए विवाह हो जाने पर हमें एक प्रकार की शान्ति मिलती है। उसे तो अपने काम को दूसरे के हाथों में सौंपने का क्षण समझना चाहिए। यदि मैंने अपना कर्तव्य पूर्ण नहीं किया तो मेरे प्रतिनिधि मेरे बच्चे हैं, ये कर डालेंगे।

पर सवाल यह है कि उन्हें इस कर्तव्य के पालन करने के योग्य होना चाहिए। उनका शिक्षा-संस्कार इस तरह होना चाहिए, जिससे वे परमात्मा के काम के बाधक नहीं साधक हों। यदि मैं अपने आदर्श के नज़दीक नहीं पहुँच सका तो मुझे यह कोशिश करनी चाहिए, जिससे मेरे बच्चे उसके नज़दीक पहुँच सकें। बस, यही इच्छा बच्चों के शिक्षा-संस्कार की समस्त योजना और शैली को निश्चित कर देती है। वह उसमें धार्मिकता उत्पन्न कर देती है। यही भावना है, जो आत्मोत्सर्ग की सर्वश्रेष्ठ आकाँक्षाओं का उदय एक युवक के हृदय में कर देती है और उसे अपने परिवार-मार्ग से मानव जाति की सेवा के योग्य बना देती है।

मैं इस नवागत देवदूत का स्वागत करता हूँ। यह कौन है? कहाँ से आया है? क्यों आया है? कहां जायगा? विज्ञान जिनके लिए इन प्रश्नों का उत्तर सुझा देता है, उनके लिए तो अच्छा ही है। पर जिनके लिए विज्ञान मार्ग-दर्शक नहीं है, उनको विश्वास करना चाहिए कि एक बालक का जन्म बड़ी अर्थपूर्ण और रहस्यमय बात है। इस रहस्य को हम तभी और उतने ही अंशों में समझेंगे, जितने अंशों में हम उनके प्रति अपने कर्तव्य का पालन करेंगे।

विवाहित पुरुषों को या तो अपनी स्त्री और बच्चों को छोड़ देना चाहिए, जो कि कोई नहीं मान सकता, या एक स्थान पर बस जाना चाहिए। उनका यहाँ-वहां भटकना उनकी स्त्रियों के लिये अत्यन्त दुखदायी साबित होता होगा, जो अक्सर परमात्मा के लिए नहीं बल्कि अपने पति के लिए पवित्र जीवन व्यतीत करती हैं, और यह उनके लिए

बड़ा कष्टप्रद होता होगा। इसलिए हमें उनपर दया करनी चाहिए। पति और पत्नि कुछ रोज एक जगह शान्तिपूर्वक रहते हैं, अपनी गृहस्थी जमाते हैं, और फिर एकाएक उन्हें अपना घर-बार उठाकर दूसरी जगह जाना पड़ता है। फिर वहाँ नया घर-बार जमाओ। यह सब उनकी शक्ति के बाहर है। ऐसी बुनियाद पर बनाई गई इमारत कितने दिन खड़ी रह सकती है? मैं जानता हूँ कि तुम यही कहोगे कि इस हालत में मनुष्य को अपने बाल-बच्चों को अपने साथ ले-ले कर न दौड़ना चाहिए, उन्हें एक जगह रखकर आप कहीं भी दौड़ता रहे। मेरा खयाल है कि यह तो आपस में सलाह करके ही करना चाहिए। इस पर भी ईसा का एक वचन है, जिसका खयाल करना बहुत ज़रूरी है। वह कहता है—स्त्री और पुरुष अलग-अलग नहीं एक ही हैं, जिन्हें परमात्मा ने सम्मिलित किया है, उन्हें मनुष्य जुदा-जुदा न करे। तुम्हारे जैसे हट्टे-कट्टे और सुखी प्राणियों को पहले तो शादी ही न करनी चाहिए, किन्तु कर लेने पर और बाल-बच्चे पैदा हो जाने पर उनकी लापरवाही न करनी चाहिए। मेरा खयाल है कि पुरुषों का अपनी पत्नियों को छोड़ना महापाप है। यह ठीक है कि पहले-पहल यही मालूम होता है कि स्त्री और बच्चों से अलग रहकर आदमी परमात्मा की अधिक सेवा कर सकता है। पर कई बार यह केवल भ्रम ही साबित हुआ है। यदि तुम पूर्णतया निष्पाप होते तो शायद यह हो सकता था। दूसरे किसी को ऐसा उपदेश भी न करना चाहिए, जिससे वह अपनी स्त्री और बाल-बच्चों को छोड़ दे। क्योंकि इससे इस अनुचित त्याग का करनेवाला अपनी नज़र में तथा दूसरों की नज़र में भी अपने-आपको बड़ी निराशामय परिस्थिति में

पावेगा। यह तो बुरा है। मेरा तो खयाल है कि कमज़ोर और पातकी मनुष्य भी परमात्मा की सेवा कर सकता है।

विवाह एक पाप है। मनुष्य को चाहिए कि वह कभी पाप न करे और यदि उसके हाथ से वह हो ही जाय तो उसको चाहिए कि वह उसके फल को भी आप भोगे। उससे मुँह मोड़ कर दूसरा पाप न करे। बल्कि इसी अवस्था में तन-मन से परमात्मा की सेवा करे।

* * *

हाँ, ईसा ने परमात्मा की सेवा का जो आदर्श पेश किया है वह जीवन तथा मनुष्य-जाति को टिकाते रखने की चिन्ताओं से युक्त है। अपने को उन चिन्ताओं से रखने के प्रयत्न ने अबतक तो मनुष्य-जाति का नाश नहीं किया! आगे क्या होगा, सो तो मैं नहीं जानता।

अपने जमाने की विचित्रताओं के विषय में कुछ कहने की इच्छा नहीं होती। पर तमाम ईसाई देशों के ग़रीब और अमीरों में पति और पत्नी, स्त्री और पुरुष के बीच जो सम्बन्ध हैं, वह सचमुच अजीब है। जैसा कि मुझे दिखाई देता है, स्त्रियों के द्वारा यह सम्बन्ध बुरी तरह बिगाड़ दिया गया है; वे पुरुषों के साथ केवल औद्धत्य ही नहीं करतीं बल्कि उनका द्वेष तक करने लग जाती हैं। वे अपनी ठसक जताना चाहती हैं। वे दिखाना चाहती हैं कि वे पुरुषों से किसी बात में कम नहीं हैं। जो बातें पुरुष कर सकते हैं वे सब स्त्रियां भी कर सकती हैं। सच्ची नैतिक और धार्मिक भावना का एक तरह से उनमें अभाव-

सा मालूम होता है। यदि कहीं होता भी है तो उनके माता बनते ही वह अदृश्य हो जाता है। §

*   *   *

मेरा खयाल है कि स्त्रियां पुरुषों से किसी बात में भी कम नहीं हैं। पर ज्योंही वे शादी कर लेती है और मातायें बन जाती हैं त्योंही श्रम का एक स्वाभाविक विभाग हो जाता है। मातृत्व उनकी इतनी शक्ति को खींच लेता है कि फिर परिवार के लिए नैतिक मार्ग-दर्शिका बनने के लिए उनके नजदीक कोई उत्साह ही नहीं रह जाता। स्वभावतः यह काम पति पर आ पड़ता है। बस, संसार के आरम्भ से यही चला आया है।

पर आजकल कुछ गड़बड़ी हो गई है। पुरुष ने अपने इस अधिकार का बीच-बीच में दुरुपयोग किया। अपनी राय और मत उसने स्त्री पर ज़बर्दस्ती लादे और स्त्री ने ईसाई-धर्म के द्वारा स्वाधीनता मिलने के कारण पुरुष की आज्ञा मानना छोड़ दिया है। पर उसने अभी स्वेच्छापूर्वक पुरुष ही के मार्ग-दर्शन को अच्छा समझ कर उसको मंजूर करना शुरू नहीं किया। यह तो समाज के प्रत्येक अङ्ग के अवलोकन से स्पष्ट होगा।

स्त्री-पुरुषों के बीच जो अधिकांश दुःख पाया जाता है, उसका प्रधान कारण उनका एक-दूसरे को भली-भांति न समझना ही है।

---

§ जहाँ कहीं टॉल्स्टाय ने स्त्रियों के विषय में ऐसी बातें कही हैं वहाँ उनका मतलब उन माताओं से है, जो अपने स्वाभाविक सौजन्य से, बुरी सोहबत के कारण, हाथ धो बैठी हैं। —अनुवादक

पुरुष इस बात को कदाचित् ही समझ पाते हों कि स्त्रियों के लिए बच्चे कितने प्यारे होते हैं। साथ ही स्त्रियाँ भी तो पुरुष के सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक कर्तव्यों को क्वचित् ही समझ पाती हैं।

यद्यपि पुरुष कभी अपने पेट में बच्चों को न रख सकता है और न जन सकता है,—तथापि वह इस बात को ज़रूर समझ सकता है कि ये दोनों काम महा कठिन हैं अत्यन्त कष्टप्रद हैं। साथ ही वह इसके महत्त्व को भी भली-भाँति जानता है। पर इस बात को बहुत-कम स्त्रियाँ जानती हैं कि आध्यात्मिक रीति से जीवन-कार्य को सोचना और तय करना एक गुरुतर और महान् कार्य है। थोड़ी देर के लिए कभी-कभी वे समझ भी लेती हैं तो उसी क्षण भूल जाती हैं, और ज्योंही, उनकी अपनी बातें आती हैं—फिर वे पहनने-ओढ़ने जैसी कितनी ही तुच्छ पारिवारिक बातें क्यों न हों—वे पुरुषों के विश्वासों की सत्यता और दृढ़ता को फौरन भुला देती हैं। वह उनको अपने गहने-कपड़े के सामने असत्य और काल्पनिक प्रतीत होता है।

* * * *

मुझे यह कल्पना सुनकर बड़ा ही विस्मय हुआ कि स्त्री और पुरुष के बीच जो अक्सर लड़ाई छिड़ जाती हैं, उसका कारण प्रायः यह भी होता है कि परिवार का काम किस तरह चलाया जाय। एक पत्नी कभी इस बात को स्वीकार नहीं करती कि उसका पति होशियार और व्यवहार-कुशल है। क्योंकि यदि इसे वह कबूल करले तो पति की सब बातें भी उसे माननी पड़े। यही बात पुरुष के विषय में भी चरितार्थ होती है।

यदि मैं इस समय 'दी क्रूजर सोनाता' लिखता होता तो मैं इस बात को ज़रूर सामने रखता ।

अंततोगत्वा वही शासन करने लगते हैं, जिनपर ज़बर्दस्ती की गई हैं—अर्थात्, जिन्होंने अप्रतिकार के कानून का पालन किया है। स्त्रियाँ अधिकारों के लिए प्रयत्न कर रही हैं, पर वे महज़ इसीलिए शासन करती हैं कि उनपर बल का प्रयोग किया गया है । संस्थायें पुरुषों के हाथों में हैं। पर लोकमत तो स्त्रियों के अधीन है। और लोकमत तमाम कानून और फौजों की अपेक्षा लाखों गुना अधिक शक्तिशाली है। लोकमत स्त्रियों के अधीन है, इसका प्रमाण यह है कि न केवल गृहव्यवस्था, भोजन आदि स्त्रियों के अधीन हैं, बल्कि स्त्रियां धन के व्यय को भी अपने अधीन रखती हैं। इसलिए मानव-परिश्रम भी उन्हींके हाथों में है। कला के कार्य तथा पुस्तकों की सफलता और ठेठ शासकों का चुनाव तक लोकमत के आधीन है और लोकमत का संचालन करनेवाली स्त्रियाँ ही हैं।

किसीने कहा है कि स्त्रियों को नहीं पुरुषों को स्वाधीनता के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

एक खूबसूरत स्त्री अपने आप कहती है—"मेरा पति होशियार है, विद्वान् है, कीर्तिशाली है, श्रीमान् भी हैं। वह नीतिमान और पवित्र पुरुष है। पर मेरे नज़दीक तो वह मूर्ख, अज्ञानी, दरिद्र, तुच्छ और अनीतियुक्त है— मैं जैसा कहती हूँ; मान लेता है, इसलिए उसकी विद्या बुद्धि और सब कुछ वृथा है।" यह विचार शैली बहुत घातक है। यही उस स्त्री के नाश का कारण होती है।

हमारे जीवन की दुर्दशा तभी होती है, जब स्त्री बलवती हो जाती हैं। स्त्री बलवती तभी होती है, जब पुरुष विषयों का दास बन जाता है इसलिए यदि ख़राब जीवन से बचना है और पूर्ण गृह-सुख का उपभोग करना हैं तो पुरुष को संयम-शील बनना चाहिए।

वह कहानी रोचक क्यों हुई ? इसलिए कि उसे लिखते समय मैंने इस बात को हमेशा सामने रक्खा कि पुरुष स्त्री की विषय-लोलुपता को बढ़ाता जा रहा है। डाक्टरों ने संतति-निरोध कर दिया। अब स्त्री तो विकारों से परिपूर्ण हो गई। वह अपने को रोक न सकी। इसी समय कला ने भी तमाम प्रलोभनों को उसके सामने लुभावने रूप में पेश किया। बतलाइए। ऐसी अवस्था में वह पतन से कैसे बच सकती थी ? पति को जानना चाहिए था कि अपनी स्त्री के पतन का मूल कारण वह स्वयं ही था। जब वह इसका द्वेष करने लगा तब तो वह मर ही गई। बाद में तो वह उसे छोड़ने के लिए निमित्त मात्र ढूंढ रहा था। उसके मिलते ही वह ख़ुश हो गया।

यदि सवाल यह है कि पति अपने बच्चों के पालन-पोषण तथा शिक्षा आदि से अपना छुटकारा करना चाहता है, यदि उनको सुलाने, नहलाने, उनके कपड़े साफ़ करने, उनका खाना बनाने, उनके कपड़े आदि की चिन्ता से मुक्त होना चाहता है, तो यह अत्यन्त अनुचित, निर्दयतापूर्ण और अन्याय है।

स्वभावतः बच्चों के पालन पोषण में स्त्रियों का अधिक समय और शक्ति ख़र्च होती है। इसलिए अन्य पारिवारिक आवश्यक कर्तव्यों को हानि न पहुँचाते हुए यदि अन्य सब कार्यों का भार पुरुष ले-ले तो यह

अस्वाभाविक न होगा और प्रत्येक समझदार आदमी यही करता भी है। पर हमारे समाज में ऐसी जंगली चाल पड़ गई है कि सारे कामका बोझ जो कमजोर जाति होती है, जो निम्न होती है, उसी पर डाल दिया जाता है और वह रिवाज गहरी जड़ पकड़ गया है। मनुष्य स्त्रियों की समानता को कबूल करता है, वह कहता है कि स्त्रियों को कालेज में प्रोफेसर और डाक्टर हो जाना चाहिए। पुरुष स्त्रियों का जी जान से आदर भी करता है। पर यदि दोनों के बच्चे ने किसी कपड़े पर टट्टी कर दी हो तो उसे धोने का काम उससे न होगा। यदि बच्चे के कपड़े कहीं फट गये हों और स्त्री बीमार हो, या थक गई हो, या घड़ी भर लिखना या पढ़ना चाहती हो, तो यह भी उससे न होगा। उसे यह कर डालने का विचार तक न आवेगा।

लोकमत भी इस विषय में इतना पतित हो गया है कि यदि कोई दयावान् कर्तव्यशील पुरुष ऐसा करने लग जाय तो लोग उसका मखौल उड़ावेंगे। इसका प्रतिकार करने के लिए बहुत भारी पौरुष की आवश्यकता है।

इसलिए इस विषय में मैं तुम्हारे साथ पूरी तरह सहमत हूँ। तुमने इस बात को प्रकट करने का मुझे मौका दिया, इसलिए मैं तुम्हारा सचमुच बहुत एहसानमन्द हूँ।

सच्चा स्त्री-स्वातंत्र्य यह है, किसी भी काम के विषय में यह न समझा जाय कि यह केवल स्त्रियों का ही काम है और हमें उसे करते हुए लज्जा मालूम होती है। बल्कि उसे कमज़ोर समझ कर हमें तो प्रत्येक काम में उसकी सहायता करनी चाहिए। जितना हो सके, हमें उसके काम को हलका करने की कोशिश करनी चाहिए।

उसी प्रकार उनकी शिक्षा के विषय में भी हमें विशेष सावधानी रखनी चाहिए। यह समझ कर कि इनकी शादी होने पर बच्चों के जनन पालन-पोषण आदि में उनको लिखने पढ़ने के लिए काफ़ी समय न मिलने पावेगा, हमें उनके स्कूलों पर लड़कों के स्कूलों की अपेक्षा भी अधिक ध्यान देना चाहिए। इसलिए कि वे जितना भी कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं, विवाह और मातृत्व के पहले-पहल कर लें।

यह बिलकुल सत्य है कि स्त्रियां और उनके काम के विषय में कितनी ही हानिकर और पुरानी धारणायें हमारे समाज में प्रचलित हैं। उनके खिलाफ़ भी हमें उतनी ही आवाज़ उठानी चाहिए। पर मेरा खयाल है कि स्त्रियों के लिए पुस्तकालय और अन्य संस्थायें खोलने वाला समाज उनके लिए न झगड़ सकेगा।

मैं इसलिए नहीं झगड़ता कि स्त्रियों को कम वेतन दिया जाता है। काम की क़ीमत तो उसको देखकर ही होती है। मुझे सबसे ज्यादा रोष तो इस बात का होता है कि एक तो स्त्री पहले ही बच्चों को जनने, पालन करने आदि के कारण बेजार रहती है, तिस पर उसके सिर पर और खाना पकाने का भार भी डाल दिया जाता है।

बेचारी चूल्हे के सामने तपे, बर्तन मले, कपड़े धोये, खाने पीने का सामान साफ़ करे, सीये-पिरोये और मरे। यह सब काम का बोझ केवल स्त्री पर ही क्यों डाल दिया जाता है ? एक किसान, मज़दूर या सरकारी मुलाज़िम को सिवा बैठे बैठे हुक्का गुड़गुड़ाने के और कोई काम नहीं रहता, वह निकम्मा बैठा रहता है और सब काम स्त्री पर छोड़ दिया जाता है। भले ही वह बीमार हो, पर उसे खाना पकाना

यह एक भयंकर बुराई है। इससे स्त्रियों में असंख्य रोग पैदा होते हैं। उनकी और उनके बच्चों की तमाम ज्ञान-शक्ति कुण्ठित हो जाती है और असमय में बूढ़ी होकर वे इस लोक से चल बसती हैं।

* * *

स्त्रियों ने हमेशा पुरुषों के अधिकार को मान लिया है। इसके विपरीत संसार में और होता भी क्या? पुरुष अधिक शक्तिशाली है, इसलिए वह स्त्रियों पर शासन करता है। सारे संसार में यही होता आया है। स्त्री-राज्य की कहानी प्रचलित है, उसकी तो राम जाने। पर आज भी समाज में हज़ार में से ९९९ उदाहरण ऐसे ही मिलेंगे। ईसा ने जन्म लिया और बताया कि पशुबल नहीं किन्तु प्रेम मनुष्य-जाति को पूर्णता की ओर ले जायगा। इस भावना ने तमाम गुलामों को और स्त्रियों को मुक्त कर दिया। पर निरंकुश स्वाधीनता भी एक महान् संकट साबित होती, इसलिए यह तय किया गया कि तमाम स्वाधीन स्त्री-पुरुष ईसाई हो जाँय—अर्थात् ईश्वर और मनुष्य की सेवा के लिए अपना जीवन अर्पण करदें। अपने लिए न जीयें। गुलाम और स्त्रियां मुक्त तो हो गईं, पर वे सच्ची ईसाई न बनीं। इसीलिए वे संसार के लिए भयंकर साबित हुईं। संसार की तमाम आपत्तियों की जड़ स्त्रियाँ ही हैं इसलिए किया क्या जाय? क्या फिर उन्हें गुलाम बना दिया जाय? यह तो असम्भव है, क्योंकि यह कोई करने वाला नहीं है। सच्चे ईसाई गुलाम बना नहीं सकते और ग़ैर-ईसाई इसे मंजूर न करेंगे, झगड़ेंगे। बात तो यह है कि वे अपने ही बीच में झगड़ रहे हैं। वे तो ईसाइयों को ही जीत रहे हैं और गुलाम बना रहे हैं। तब क्या किया

जाय ? केवल एक ही बात रह जाती है। लोगों को ईसाई-धर्म की ओर आकर्षित किया जाय, उन्हें ईसाई बना लिया जाय, और यह तभी हो सकता है जब मनुष्य अपने जीवन में ईसा के बताये धर्म का पूरा पूरा पालन करना शुरू कर दें।

* * *

जो स्त्रियाँ पुरुषों के जैसा काम और स्वाधीनता चाहती हैं, वे यथार्थ में अज्ञानतः स्वच्छन्दता की अभिलाषिणी हैं। फलतः वे जहाँ ऊपर चढ़ने की, उन्नति करने की सोच रही हैं—उसीमें उनकी अवनति है।

* * *

मैं स्त्रियों और विवाह के विषय में बहुत कुछ सोचता रहता हूँ। और मैं अपने विचारों को प्रकट भी कर देना चाहता हूं। अवश्य ही मेरे विचार इन क्षुद्र वस्तुओं के विषयों में (महिला-विद्यापीठ आदि के विषय में) नहीं हैं। मैं तो उस महान् गौरवास्पद बात के विषय में सोच रहा था, जिसे रमणी-धर्म कहते हैं। इसके विषय में कई बहुत बुरी-बुरी बातें स्वयं शिक्षित स्त्रियों में फैलाई जा रही हैं। मसलन, स्त्रियों को यह समझाया जाता है कि उन्हें दूसरों के बच्चों से अपने बच्चों पर अधिक प्यार न करना चाहिए। पुरुषों के साथ उनकी समानता होने के विषय में भी कुछ भ्रम-पूर्ण और समझ में न आने योग्य बातें फैलाई जाती हैं।

पर यह बात कि उसे दूसरों की अपेक्षा अपने बच्चों पर अधिक प्यार न करना चाहिए, सभी जगह कही जाती है और एक स्वयं-सिद्ध

मान समझी जाती है। व्यवहारिक नियम के अनुसार भी यह तमाम उपदेशों का सार है। पर फिर भी यह सिद्धान्त बिलकुल ग़लत है।

* प्रत्येक मनुष्य—स्त्री का और पुरुष का—भी पेशा है मानव-जाति की सेवा। इस सार्वभौम तत्त्व को तो, मेरा खयाल है, सभी नीतिमान् पुरुष मानेंगे। इस कर्त्तव्य की पूर्ति में स्त्री और पुरुषों के बीच उसकी पूर्ति के साधनों की योजना के अनुसार महान् भेद है। पुरुष शारीरिक, मानसिक और नीतियुक्त कार्यों द्वारा यह सेवा करता है। उसके सेवा करने के मार्ग असंख्य हैं। बच्चे पैदा करने और उनको दूध पिलाने को छोड़कर संसार में जितने भी काम है वे पुरुष की सेवा के क्षेत्र हो सकते हैं। स्त्री उन सब कामों के अतिरिक्त भी अपनी शरीर रचना के कारण एक खास काम के लिए नियुक्त की गई है और पुरुष के कार्य-क्षेत्र से बाहर रख दी गई हैं। मानव-सेवा दो प्रकार के कार्यों में विभक्त हो गई हैं। एक तो वर्तमान मानवों का कल्याण या सेवा करना और दूसरे मनुष्य-जाति को कायम रखना पहले प्रकार का कर्तव्य पुरुषों के सिर पर रक्खा गया है, क्योंकि दूसरे के लिए जिन सुविधाओं की आवश्यकता है उनसे वह वंचित रक्खा

---

* यहाँ पर यह कह देना जरूरी है कि यह उदाहरण तथा इस प्रकार के दरसाने वाले अन्य उदाहरण भी उस "अन्तिम कथन" के पहले लिख गये है, जिसमें उन्होंने अपने स्त्री पुरुष विषयक विचारों को साफ़ साफ प्रकट कर दिया है। प्रस्तावना में यह बात बताने का प्रयत्न किया गया है कि ग्रन्थकार के पहले और बाद के विचारों में इतनी विभिन्नता क्यों है?—अनुवादक

गया है। स्त्रियों को दूसरे काम के लिए इसलिए रक्खा गया है कि केवल वे ही उसे कर सकती हैं। इस स्वाभाविक भेद को भुला देना या भुलाने की कोशिश करना पाप है। दरअसल इसे कोई भुला नहीं सकता, और न भुलाना चाहिए। इसी भेद के कारण स्त्री-पुरुषों के कार्य-क्षेत्र में भी भेद हो गया हैं। यह भेद मनुष्य का बनाया कृत्रिम क्षेत्र नहीं, प्राकृतिक है। इसी विशेषता से स्त्री और पुरुष के गुण-दोषों की भी विभिन्नता उत्पन्न होती है, जो युगों से चली आई है, आज भी है, और इसी तरह तब तक चली जायगी, जब तक मनुष्य विवेकशील प्राणी बना रहेगा।

जो पुरुष अपना समय पुरुषोचित विविध कामों को करते हुए व्यतीत करता है, तथा जिस स्त्री ने बच्चे पैदा करके उनके पालन-पोषण आदि में ही आनन्द माना है, वह यही सोचेंगे कि हमने अपना समय अच्छे कामों में व्यतीत किया। वे दोनों मानव-जाति के आदर और सम्मान के पात्र होंगे, क्योंकि उन्होंने वही काम किया जो उचित है। पुरुष का पेशा विविध और विशाल है, स्त्री का काम एकरस और गहरा है। इसलिए यह माना जाता है कि अपने एक, दस, सौ या हज़ार कामों में गलती करने वाला पुरुष उतना बुरा नहीं समझा जाता, क्योंकि उसके कार्य नानाविध होने के कारण अन्य कितने ही कार्य ऐसे भी होते हैं जिनको वह अच्छी तरह न कर सका है या न कर सकता है। पर स्त्री के तो केवल दो तीन ही काम होते हैं। उनमें यदि वह ग़लती कर जाय तो कहा जायगा कि उसने एक-तिहाई या दो-तिहाई काम बिगाड़ डाला और उसकी बदनामी अधिक होगी। यही

कारण है, जो संसार में स्त्रियों के सदाचार पर हमेशा इतना अधिक ज़ोर दिया गया है। क्योंकि यही तो सबसे महत्वपूर्ण विषय है। पुरुष को अपने शरीर और बुद्धि-द्वारा ईश्वर की सेवाकर इन अनेक-विध क्षेत्रों में काम कर उसके आदेश का पालन करना चाहिए। स्त्री तो केवल अपने बच्चों द्वारा ही यह सेवा कर सकती है। क्योंकि उसके सिवा और कोई इस कार्य को कर ही नहीं सकता।

पुरुष को कहते हैं—'अपने काम के द्वारा ईश्वर की सेवा कर 'कर्मणैव तमभ्यर्च्य, सिद्धिं विन्दति मानवः।' स्त्री को आदेश दिया है—'तू अपने बच्चों के द्वारा ही मेरी सेवा कर सकती है।' इसलिए उसका अपने बच्चों को प्यार करना स्वाभाविक है। इसके खिलाफ़ दलीलें करना व्यर्थ है। माता के लिए यह विशेष प्यार सर्वथा उचित है। बच्चों पर उसकी शैशवावस्था में माता का प्यार करना स्वार्थ या अहंकार नहीं; जैसा कि बताया जाता है। यह तो काम करने वाले का अपने काम के प्रति प्यार है, जब तक कि वह उसके हाथों में है। मनुष्य के अन्दर से काम का प्यार निकाल डालो, फिर उसके लिए काम करना ही असम्भव हो जायगा।

यदि मैं एक मूर्ति बना रहा हूँ; तो जब तक वह मेरे हाथों में होगी, मैं उसको खूब प्यार करूँगा, जैसा कि एक माता अपने बालक पर प्यार करती है। यह विशेष प्रेम तभी तक रहता है, जब तक कि मैं उसको बना रहा हूं। उसके पूरा बना चुकने पर वह प्यार उतना गहरा नहीं रहता, बल्कि कमजोर और अनुचित प्रेम-मात्र रह जाता है। यही माता के विषय में भी चरितार्थ होता है।

पुरुष को अनेक कामों द्वारा मानव-जाति की सेवा करने का आदेश दिया गया है और जब तक वह उन्हें करता है, उन्हें प्यार करता है। स्त्री को उसके बचों द्वारा मानव-जाति की सेवा करने का आदेश है और वह भी तब तक उनका पालन-पोषण कर उनका प्यार करती रहती है, जब तक कि वे तीन, पाँच या दस वर्ष के नहीं हो जाते।

इस तरह यद्यपि पुरुष और स्त्री के कार्य-क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं, तथापि दोनों के बीच एक विलक्षण साम्य है। दोनों सम-समान हैं। यह समानता की भावना तब और भी बढ़ जाती हैं, जब हम देखते हैं कि दोनों कार्य एक ही से महत्व-पूर्ण और परस्परावलंबी—एक दूसरे के सहायक हैं। दोनों को सम्पन्न करने के लिए सत्य का ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है, जिसके बिना उनके कार्य लाभदायक होने के बजाय हानिकर सिद्ध होने की सम्भावना है।

पुरुष को अनेक प्रकार के कार्य करने का आदेश तो है, पर उस के तमाम शारीरिक, मानसिक तथा धार्मिक कार्य तभी सफल होंगे, जब वह अपने अनुभूत सत्य के आधार पर इनको करेगा।

यही बात स्त्री के विषय में भी चरितार्थ होती है। स्त्री का बच्चे पैदा करना, उनका पालन-पोषण करना, उनका प्यार करना आदि सब तभी सार्थक होगा, जब वह उन्हें अपने आनन्द के लिए नहीं, मानव-जाति की सेवा के लिए तैयार करती हो, जब वह अपने बच्चों को इसी श्रेष्ठ सत्य के अनुसार शिक्षित भी करती हो, अर्थात् उन्हें यह सिखाती हो कि उनको मनुष्य जाति से बहुत कम लेकर उसे बहुत ज्यादा देना चाहिए।

मैं उस स्त्री को आदर्श रमणी कहूँगा, जो पहले अपने जीवन के तथा जगत् के लक्ष्य को समझ कर उसकी पूर्ति के लिए योग्य से योग्य बच्चे पैदा करके उन्हें उस महान् कार्य के लिए तैयार करे, जिस का कि उसने स्वयं दर्शन किया है। यह जीवन का लक्ष्य विद्यापीठों और महाविद्यालयों में आँखें मूंद कर शिक्षा प्राप्त करने से नहीं, आंखें और हृदय के द्वार खोल कर उस परम सत्य की आराधना द्वारा उस का उदय मानव-हृदय में होता है।

बहुत ठीक ! पर वे लोग क्या करें, जिन्होंने विवाह नहीं किया, या जो विधवा हैं, अथवा जिनके सन्तान ही नहीं ? वे यदि पुरुष के विविध कामों में हाथ बटावें तो अच्छा होगा। प्रत्येक स्त्री जिसने अपने बच्चों से सम्बन्ध रखने वाले काम को पूर्ण कर लिया है, अपने पति के इस काम में शौक़ से शरीक हो सकती हैं और उसकी सहायता होगी भी बड़ी क़ीमती।

* * *

स्त्रियों की बेहद तारीफ़ करके यह कहा करना अनुचित और हानि-कर है कि उनकी मानसिक शक्तियाँ उतनी ही विकसित और उन्नत होती हैं, जितनी कि पुरुषों की होती हैं।

मैं मानता हूँ कि स्त्रियों के अधिकारों पर कोई नियन्त्रण न हो; उन का आदर और प्रेम पुरुषों के समान किया जाय और अधिकारों के विषय में भी वे पुरुषों के समान हैं। पर यह कहना एक साथ औरत एक साधारण पुरुष के इतनी ही बुद्धि, मानसिक विकास और अन्य विशेषतायें रखती है, और उससे इनकी आशा करना, अपने

आपको धोखा देना है और स्त्रियों के साथ अन्याय करना है। क्योंकि इन बातों की आशा करके आप उनसे वे ही बातें चाहेंगे और उनके न मिलने पर आप चिढ़ेंगे और उनपर उन बातों के लिए बुरे-बुरे दोषों का आरोप करेंगे, जो उनके लिए एकदम असंभव हैं।

अतः स्त्री को आध्यात्मिक दृष्टि से कमज़ोर समझना—जैसी कि वह है—निर्दयता नहीं है, बल्कि निर्दयता तो है उसपर आध्यात्मिक समता का आरोप करने में।

आध्यात्मिक शक्तियों के कम होने से मेरे मानी हैं आत्मा को शरीर की अधीनता में रखना। यह स्त्रियों की खास विशेषता है। स्वभावतः ही बुद्धि के आदेशों में उनकी कम श्रद्धा होती है।

* * *

पारिवारिक जीवन तभी सुखमय हो सकता है, जब स्त्रियों को यह विश्वास दिला दिया जाय कि हमेशा पति की आज्ञा को मानने में ही उनका कल्याण है, और वे इसकी यथार्थता को समझ लें। मनुष्य-जाति के आरंभ-काल से यही चला आया है। इससे यह सिद्ध है कि यही जीवन स्वाभाविक भी है। पारिवारिक जीवन एक नाव के समान है, जिसका कर्णधार दो नहीं, केवल एक ही आदमी एक समय हो सकता है। और यह कर्णधार केवल पुरुष ही हो सकता है, क्योंकि न तो उसको बच्चे पैदा करने पड़ते हैं और न उसके सिर पर उनके पालन-पोषण की जिम्मेदारी ही है। अतः वही परिवार का सच्चा नायक हो सकता है, स्त्री नहीं।

पर क्या स्त्रियाँ हमेशा पुरुषों से कनिष्ठ होती हैं ? अविवाहित स्त्रियाँ तो प्रत्येक बात में पुरुष के समान होती हैं। पर इसके क्या माने कि कि स्त्रियाँ इस समय केवल समानता ही नहीं, श्रेष्ठता का भी दावा करती हैं ? बात यह है कि हमारा पारिवारिक जीवन उत्क्रान्ती कर रहा है। उसमें पुरानी प्रथा का कुछ समय के लिए छिन्न-भिन्न होना अनिवार्य है। स्त्री-पुरुषों का सम्बन्ध एक नवीन रूप धारण करने जा रहा है, वह पुराना रूप टूट रहा है।

इसका यह नवीन रूप कैसा होगा, यह कोई नहीं कह सकता यद्यपि कई लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से इसकी रूप रेखा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। संभव है, आगे अधिक लोग ब्रह्मचर्य का पालन करने की कोशिश करें। शायद कुछ समय तक स्त्री-पुरुष साथ रहें, बच्चे पैदा होते ही फिर अलग-अलग हो जाँय और ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहें। शायद बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था समाज ही करने लग जाय। किसी ने नवीन रूपों का दर्शन नहीं किया है और न कर ही सकता है। पर इसमें शक नहीं कि नवीन रूपों का निम्मांण हो रहा है और पुराना रूप तभी टिक सकेगा, जब स्त्री पुरुष का आज्ञा में रहने लग जायगी। यही अब तक सब जगह होता आया है, और जहाँ स्त्री पति की आज्ञा को माननेवाली है, वहीं सच्चा गार्हस्थ्य सुख भी देखा जाता है।

*　　*　　*

कल मैं सियंकिवीज का Without Dogma पढ़ रहा था। स्त्री के प्रति प्यार का उसमें बड़ी अच्छी तरह वर्णन किया गया है। फ़रासीसी वैष.यकता, अंग्रेज़ी मक्कारी और जर्मन दम्भ की अपेक्षा वह कहीं

ऊँचा, कोमल और मृदुल है। मैंने सोचा, पवित्र प्रेम पर एक बढ़िया उपन्यास लिखा जाय तो बड़ा अच्छा हो। उसमें प्रेम को वैषयिकता की पहुंच से ऊँचा बताया जाय। क्या विषय-वासना से ऊपर उठने का यह एकमात्र रास्ता नहीं है? हां, बिलकुल ठीक, यही है। बस, इसीलिए स्त्री और पुरुष बनाये गये हैं। केवल स्त्री के सहवास से वह अपना ब्रह्मचर्य खो सकता है और उसीकी सहायता से उसकी रक्षा भी कर सकता है। ज़रूर इसपर एक उपन्यास लिखना चाहिए।

* * *

मनुष्य एक प्राणी है, इसलिए वह जीवन-कलह के क़ानून तथा सन्तानोत्पत्ति की जन्मजात बुद्धि के अधीन हो जाता है। पर एक विवेकशील प्रेमधर्मी और दिव्य प्राणी की हैसियत से उसका कर्तव्य भिन्न है। वह उसे जीवन-कलह में अपने प्रतिस्पर्धी से झगड़ने का नहीं, उनसे नम्रता, शान्ति और प्रेम पूर्वक पेश आने का आदेश देता है। वह उसे विकाराधीन होने का नहीं, विकार पर अपना प्रभुत्व कायम करने का आदेश करता है।

* * *

मानव-जाति के सर्वश्रेष्ठ कर्तव्यों में ब्रह्मचारिणी तथा पतिव्रता स्त्रियों को तैयार करना भी एक है।

* * *

एक कहानी में कहा गया है कि स्त्री शैतान का शस्त्र है—सुकुमारं प्रहरणं। स्वभावतः उसके बुद्धि नहीं होती। पर जब वह शैतान के हाथों में पड़ जाती है, तब वह उसे अपनी बुद्धि दे देता है

और अब तमाशा देखिए। वह अपने नीचता भरे कार्यों के सम्पादन में बुद्धि, दूरंदेशी, और दीर्घोद्योग में कमाल कर जाती है। पर यदि कोई अच्छी बात करना है तो सीधी से सीधी बात उसके ध्यान में नहीं आती। अपनी वर्तमान परिस्थिति से आगे वह देख ही नहीं सकती। बच्चे पैदा करने और उनका पालन पोषण करने के कार्य को छोड़ उनमें न शान्ति है, दीर्घोद्योग।

पर यह सब उन कुलटा स्त्रियों के विषय में कहा गया है। ओह! स्त्रियों को रमणी-धर्म का पावित्र्य और गौरव समझने को दिल कितना चाहता है। 'मेरी' की कहानी निराधार नहीं। सती स्त्री संसार का अवलम्ब है।

❁ ❁ ❁

रमणी-धर्म सबसे ऊँचा सर्वश्रेष्ठ मानव-धर्म है, जिसके विषय में मैं ऊपर कह गया हूँ। गृहस्थ-जीवन और ब्रह्मचारी जीवन की तुलना करना—नागरिक-जीवन और ग्राम्य-जीवन की तुलना करने के समान है।

ब्रह्मचर्य और गृहस्थ-जीवन साधारणतया मनुष्य के चित्त पर कोई असर नहीं डाल सकते। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ-जीवन दोनों के दो-दो प्रकार हैं; एक साधुचित्त और दूसरा पापमय।

एक लड़की से, प्रत्येक लड़की से, और खास कर तुझसे जिसके अन्दर आध्यात्मिक शक्ति ने काम करना शुरू कर दिया है, मैं यह सिफारिश करूंगा और सलाह दूँगा कि वह समाज की उन सब बातों की ओर ध्यान न दे, जिनके देखने मात्र से विवाह की आवश्यकता की

कल्पना या औचित्य दिखाई देता हो। यथार्थ में विवाह से सम्बन्ध रखनेवाली तमाम बातों को टालता रहे। उपन्यास, संगीत, फ़ज़ूल गपशप, नाच, खेल; ताश और चटकीले कपड़ों से भी दूर ही रहे। सचमुच, घर पर रहकर अपना कपड़ा सीना या कोई दूसरा उपयोगी काम करना, बाहर इधर-उधर अधिक से अधिक खुश-मिज़ाज लोगों के साथ घण्टों बिताने की अपेक्षा अधिक आनन्द दायक है। फिर वह आत्मा के लिए कितना फायदेमन्द होगा ?

पर समाज की यह कल्पना कि एक लड़की के लिए अविवाहित रहना, चरखा चलाते रहना, बहुत बुरा है, सत्य से उतनी ही दूर है, जितनी कि अन्य कई महत्वपूर्ण विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली समाज की धारणायें हैं। ब्रह्मचारी रहकर मनुष्य-जाति की सेवा करना, दीन-दुखियों की संकट में सहायता करना किसी भी विवाहित जीवन से कहीं अधिक श्रेयस्कर है। सभी मनुष्य इस कथन की सत्यता को स्वीकार न कर सकेंगे। परमात्मा ने जिनके निर्मल विवेक दिया है, वही इसकी यथार्थता का अनुभव कर सकेंगे। संसार के तमाम स्त्री-पुरुषों ने इस प्रश्न को इसी पहलू से देखा है और सच्चे ब्रह्मचारियों का उन्होंने आदर किया है। उनका प्रश्न नहीं जो मजबूरन् ब्रह्मचारी रहे, बल्कि उन श्रेष्ठ पुरुषों का जो कि स्वेच्छापूर्वक परमात्मा की सेवा के खातिर ब्रह्मचर्य-धर्म का पालन करते रहे। पर हमारे समाज में वे मूर्ख समझे जाते हैं ! यही बात उन लोगों के विषय में भी चरितार्थ होती है, जिन्होंने परमात्मा के लिए ग़रीबी के वीर-धर्म को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया है, जिन्होंने श्रीमान् होने से इन्कार कर

दिया है। मैं प्रत्येक लड़की को और तुझको भी यही सलाह दूँगी कि हमेशा परमात्मा की सेवा का आदर्श अपने सामने रख। अर्थात्, यदि तुझे विश्वास हो गया है कि विवाहित जीवन में तू यह न कर सकेगी तो तेरा कर्तव्य है कि तू अविवाहित रहकर ही परमात्मा के दिव्य प्रकाश को अपने हृदय में स्थान दे और उसीके सहारे अपनी जीवन-नौका को खेती जा। पर यदि किसी कारण से किसी पुरुष के साथ तेरा अटूट प्रेम हो जाय और तू उससे शादी करले तो अपने पत्नीत्व तथा मातृत्व में ही संतोष न मानले, जैसा कि अन्य स्त्रियाँ करती हैं। बल्कि इसका खयाल रख कि परिवार की पूर्ण सेवा करते हुए भी तू अपने जीवन के लक्ष्य की ओर—परमात्मा की सेवा की दिशा में—बराबर बढ़ती जा रही है। परिवार या बच्चों के प्रति अनन्य प्रेम तुझे परमात्मा से विमुख न करने पावे।

* * *

तुम्हारी उम्र और इसी परिस्थिति में पड़े हुए सभी युवक बड़े खतरे में हैं। यह समय तुम्हारे जीवन में बड़ा महत्व पूर्ण है। इस समय जो आदतें बनती हैं, वे हमेशा के लिए वज्रलेप हो जाती हैं। तुमपर किसी का नैतिक या धार्मिक नियन्त्रण नहीं है। प्रलोभन चारों ओर से तुम्हें लुभा रहे हैं। बस, उन्हें तुम जानते हो और जानते हो केवल उन नियमों की कठोरता को, जो तुम्हें उनसे रोकने के लिए बनाये गये हैं। पर तुम उनसे मुक्त होने का मौका देख रहे हो। तुम्हें यह अवस्था बिलकुल स्वाभाविक नज़र आती है। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। क्योंकि उसी परिस्थिति में तुम और तुम्हारे साथी मित्र छोटे से बड़े हुए

हैं। पर फिर भी यह अवस्था तो निस्सन्देह बुरी और ख़तरनाक है। ख़तरनाक इसलिए है कि विषय-लालसा या प्रत्येक इच्छा की तृप्ति को ही यदि मनुष्य अपने जीवन का लक्ष्य बना ले, जैसा कि अक्सर युवक लोग करते हैं, तो उनकी बड़ी दुर्दशा होगी। क्योंकि युवावस्था में विकार और काम बड़ा प्रबल होता है। धीरे-धीरे और प्रति दिन अपनी इच्छा या काम की तृप्ति के लिए उन्हें नई-नई वस्तुओं को खोजना पड़ेगा। क्योंकि प्रकृति का यह नियम है कि विषय लालसा की तृप्ति में किसी एक वस्तु के उपभोग से दूसरी बार उतना आनन्द नहीं आता, जितना कि पहली बार आता है। स्वभावतः ये विषयी युवक अन्धे की तरह नित्य नये खेल, तमाशे, कपड़े, संगीत आदि की खोज में दौड़ते फिरेंगे। एक यह भी क़ानून है कि आनन्द तो अंकगणित के नियम के अनुसार बढ़ता है, पर विषय तृप्ति के साधनों को बढ़ाना पड़ता है।

और तमाम विषयों में काम सबसे अधिक प्रबल है, जो स्त्री या पुरुष के प्रति प्रेम के रूप में प्रकट होता है। काम-चेष्टायें, हस्त-मैथुन, स्त्री-संभोग आदि तक मनुष्य की पहुँच बात की बात में हो जाती हैं। जब मनुष्य आख़िरी सीमा तक पहुँच जाता है तब उसी आनन्द को बढ़ाने के लिए वह कृत्रिम उपायों को खोज़ता है। तम्बाकू, शराब, अश्लील संगीत आदि का आश्रय लिया जाता है।

यह एक इतनी मामूली बात है कि प्रत्येक ग़रीब या श्रीमान् युवक इसका अवलम्बन करता है। यदि वह सम्हल गया तब तो पवित्र जीवन व्यतीत करने लग जाता है। अन्यथा वह दीन-दुनियाँ से जाता है, जैसा कि मैंने कई युवकों को बरबाद होते अपनी आंखों देखा है।

अपनी परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए केवल एक उपाय तुम्हारे लिए है। ठहर कर विचार करो, अपने आस-पास ग़ौर से देखो; और एक आदर्श ढूँढो (अर्थात् अपने जीवन का लक्ष्य निश्चितकर लो) और उसकी प्राप्ति के प्रयत्न में प्राणपण से जुट पड़ो।

* * *

मैंने यह हमेशा सोचा है कि मनुष्य का नीति के विषय में गम्भीर होने का सबसे बढ़िया प्रमाण उसका अपनी वैषयिकता पर कठोर नियन्त्रण करना ही है।

एन्॰ जिस जाल में फँस गया, वह एक प्रमाणिक और सत्यशील स्वभाव के मनुष्य के लिए जैसा कि मैं उसे समझता हूँ, बिलकुल स्वाभाविक है। कुछ सम्बन्ध क़ायम हो गया था। उसने कुछ छिपाना नहीं चाहा; बल्कि साफ़-साफ़ क़बूल करके उसको आध्यात्मिक रूप दे देना चाहा।

प्रेम से उत्पन्न होनेवाली मानसिक अस्वस्थता को परमात्मा की सेवा में लगा देनेवाली उसकी कल्पना को मैं पूर्ण रीति से समझ सकता हूं। यह असम्भव नहीं। जो लोग अपने आपको इस परिस्थिति में पाते हैं, वे अपनी शक्ति को इस धारा में बहाकर उसको असीम बढ़ा सकते हैं और महत्वपूर्ण परिणाम दिखा सकते हैं। मैंने यह कई बार देखा है। बल्कि मैं ऐसे कई उदाहरण भी जानता हूं। पर इसमें एक खतरा है। कई बार व्यक्तिगत भाव के अदृश्य होते ही तमाम शक्ति भी न जाने कहाँ ग़ायब हो जाती है और परमात्मा के कामों में फिर किसी प्रकार की दिलचस्पी नहीं ले पाते। इसके भी कई उदाहरण

मैंने देखे हैं। इसके मानी यह हैं कि परमात्मा की सेवा निष्काम होनी चाहिए। किन्हीं बाहरी बातों पर वह अवलम्बित न होनी चाहिए। बल्कि इसके विपरीत सभी बाहरी बातों का आधार यह होनी चाहिए। उसकी आवश्यकता और उससे उत्पन्न होनेवाले आनन्द पर निर्भर रहनी चाहिए। इसी तरह मानव-जीवन के गौरव की तारीफ़ करके भी मनुष्य परमात्मा की सेवा में लगाया जा सकता है, पर मनुष्य के अन्दर किसी व्यक्ति का विश्वास कम हुआ नहीं कि उसकी ईश्वर-सेवा का भी अन्त हो जाता है।

यह सब तुम जानते हो। तुमने यही कई बार लिखा है। मैं तो एन्० के साथ अपने सहमत होने के विषय में केवल एक बात और लिख देना चाहता हूँ। वह यही है कि स्त्री और पुरुष का मेल अच्छा है, जिसका उद्देश परमात्मा की और मनुष्य-जाति की सेवा है। वैवाहिक या शारीरिक सम्मिलन उनकी इस सेवा-क्षमता को बढ़ा देता हो, सो बात नहीं। हां कुछ लोगों की अशान्ति को, जिनका विकार बड़ा प्रबल होता है, यह ज़रूर मिटा देता है जो परमात्मा की सेवा में अपनी तमाम शक्तियों को लगाने के मार्ग में बड़ी बाधक साबित होती है। इसके कारण उन्हें जो शान्ति मिलती है उससे वे अपने चित्त को अधिक एकाग्र कर सकते हैं। इसलिए जहां ब्रह्मचर्य मानव-जाति के लिए श्रेष्ठ आदर्श जीवन है, वहां कमज़ोर तबीयत के लोगों के लिए विवाहित जीवन भी उनके विकार को शान्त कर उन्हें अधिक सेवाक्षम बनाने में सहायक होता है। पर इसमें एक बात को कभी न भूलना चाहिए और यही मैं एन्० से कह देना चाहता हूँ। स्त्री-पुरुषों को यह

अपने हृदय में अंकित कर लेना चाहिए कि यह मिलन की इच्छा उनमें इसलिए नहीं पैदा होती है कि वे इससे अपना दिल बहलावें, सुखोपभोग करें, कला—रसिकतापूर्वक सौन्दर्योपासना करें और सौन्दर्य का आनन्द लूटें और परमात्मा की सेवा करने के लिए शक्ति बढ़ावें, जैसा कि एन्० सोचता है। बल्कि यह प्रेम, यह मिलनेच्छा तो तुम्हें इसलिए दी गई है कि तुम केवल एक ही स्त्री या एक ही पुरुष से प्रेम कर सन्तानोत्पत्ति करो और उस विकार से मुक्त होने की दिल से कोशिश करो। इस शक्ति को या मिलनेच्छा को यदि दूसरे-तीसरे मार्ग में लगाया जायगा तो उससे सेवा तो कुछ न हो सकेगी, अलबत्ता मनुष्य अपनी दुर्दशा को बेहद बढ़ा लेगा।

इसीलिए मैं इस बात में तुमसे पूरी तरह सहमत हूँ कि यह एक ऐसी हिस्सेदारी है या साझा है जिसमें मनुष्य जितना ही अधिक सावधान रहे उतना ही उसका कल्याण होगा। हाँ, कोई पूछ सकता है कि हम अपनी जाति के व्यक्तियों के साथ जिस मित्रता-पूर्वक रहते हैं, वैसे स्त्री पुरुषों के साथ या पुरुष स्त्री-जाति के व्यक्तियों के साथ मित्रता-पूर्वक क्यों नहीं रह सकते? क्या यह बुरा है? ठीक है, यदि हम अपने हृदय को कलङ्कित न होने दें तो हम ज़रूर ऐसा कर सकते हैं। हम निर्विकार चित्त से उनको जितना ही प्यार करें अच्छा है। पर एक सच्चा और विवेकशील प्राणी फौरन कहेगा, जैसा कि एन्० ने कहा है, कि ऐसे सम्बन्ध बड़े नाज़ुक होते हैं। यदि आदमी अपने को धोखा न दे तो वह ध्यान से देख सकता है कि बनिस्बत पुरुषों के सान्निध्य के उसे स्त्रियों के सान्निध्य में एक विशेष आनन्द आता है।

वे आपस में जल्दी-जल्दी मिलने की उत्कण्ठा रखने लगते हैं। बाइसिकल आसानी से और अनायास दौड़ने लग जाती है और इसके लिए अवश्य ही कोई कारण होना ज़रूरी है। ज्योंही एक सावधान प्रामाणिक पुरुष यह देखता है, यह जानकर कि अब हमारी गति और भी तेज हो जायगी और हमें विवाह-मंडप में ले जाकर खड़ी कर देगी, वह फौरन अपनी गति को रोक लेता है और अपनेको घोर पतन से बचा लेता है।

सन्तति-निरोध विषयक किताब को मैंने पढ़ा। *

अब इसपर क्या लिखूँ और क्या कहूँ! यदि कोई आकर यह दलील करे कि सबके साथ मैथुन करने में बड़ा आनन्द आता है और वह ज़रा भी हानिकर नहीं, तो उसके समझाने के लिए जो दलीलें पेश करनी पड़ें, वही इसके विषय में भी दी जा सकती हैं। पर ऐसे आदमी को समझाकर उसे अपनी ग़लती दिखा देना असम्भव है, जो यही अनुभव नहीं करता कि विषयोप-भोग अपने और अपने साथी के लिए पातक है, अतः एक घृणित कार्य है, जो मनुष्य को पशु-जीवन में ले जाकर खड़ा कर देता है। अरे, हाथी जैसा पशु भी इससे घृणा करता है। § यह तो एक ऐसा पातक है कि इसका प्रक्षालन तो तभी हो सकता है, जब यह सन्तानोत्पत्ति के लिए ही किया जा रहा हो,

---

* यह पत्र तारीख ११ जुलाई १९०१ का है। संतति-निरोध के कृत्रिम साधनों पर लिखी गई एक पुस्तक श्री व्ही चेरकाफ द्वारा उनके पास भेजी गई थी। उसीपर टाल्स्टाय ने अपने विचार प्रकट किये हैं।

§ प्राणीशास्त्र के ज्ञाताओं का कथन है कि हाथियों का समय प्रख्यात

जिसके लिए मनुष्य के अन्दर इसको प्रकृति ने रख दिया है। ऐसे बीभत्स पातक के विषय में जो दलीलें पेश करने बैठे, उसे समझाना असम्भव नहीं तो क्या है!

प्राप्त की ज[illegible] जियन् सिद्धान्त धोखादेह है। नीति-शास्त्र को, जो कि प्रतिन्धिव-प्रधान है, वह गौण बताता है। इसलिए उसपर विचार करना ही मैं व्यर्थ समझता हूँ। मैं यह भी कहने और समझाने के झंझट में पड़ना नहीं चाहता कि इन कृत्रिम साधनों से सन्तति-निरोध करने के कार्य में और खून, कृत्रिम गर्भपात आदि पातकों में किसी क़िस्म का फ़र्क नहीं है।

क्षमा करो, इस विषय में गम्भीरता-पूर्वक कुछ कहते हुए लज्जा और घृणा होती है। बल्कि इसकी बुराई का सिद्ध करने की अनावश्यक बात को छोड़कर मनुष्य को तो केवल यह खयाल करना चाहिए कि यह हमारे समाज में कहाँ तक बढ़ गई है। इसने मनुष्य की नीतिशीलता को किसी हद तक मूर्च्छित कर दिया है। अब इसपर वाद विवाद करने का समय नहीं रहा। हमें तो फौरन इस बुराई को दूर करने में जुट पड़ना चाहिए। अरे, एक मामूली अपढ़ शराबखोर रूसी किसान को भी, जो अनेकों भयंकर मान्यताओं का शिकार है, इस बेवकूफी के सुनते ही घिन आ जायगी। यह तो हमेशा विषयोपभोग

है। जब वे क़ैद हो जाते हैं, तब उनसे दूसरे बच्चे प्राप्त करना बड़ा कठिन होता है। क्योंकि उनको यह खयाल रहता है कि उनपर किसीकी नज़र है।

को एक पाप ही समझा आ रहा है। इन सुधरे हुए लोगों से जो इतनी अच्छी तरह लिख सकते हैं, और जिन्हें अपने जंगलीपन का समर्थन करने के लिए बड़े-बड़े सिद्धान्तों को नीचे खींचने में तनिक भी लज्जा नहीं आती, वह मामूली अपढ़ किसान कई गुना उ[illegible]

*　　　*　　　*

मनुष्य-जाति के अन्दर नीति-शास्त्र के खिलाफ़ ऐसा कोई अपराध नहीं, जिसे मनुष्य एक दूसरे से इतना गुप्त रखने की कोशिश करते हों, जितना कि विषय-लालसा से सम्बन्ध रखने वाले अपराध हैं। न कोई ऐसा गुनाह इतना सर्व साधारण और भयंकर तथा विविध रूपों को धारण करनेवाला ही है। इसके विषय में जनता में जितने भिन्न-भिन्न मत हैं, उतने किसी दूसरे अपराध के विषय में नहीं हैं। एक बात को जहां एक प्रकार के लोग अत्यंत बुरी और घृणायुक्त समझते हैं तहाँ दूसरे प्रकार के लोग उसी को सुख की एक मामूली सुविधा समझते हैं। दुनिया में ऐसा एक भी अपराध नहीं, जिसके विषय में इतनी मक्कारी प्रकट की जा रही हो। यह एक ही गुनाह है, जिससे सम्बन्ध होते ही फौरन् मनुष्य की नीतिमत्ता का पता लग जाता है। व्यक्ति और समाज को विनाश के द्वार पर ले जाकर खड़ा करनेवाला इसके समान कोई अपराध ही नहीं।

*　　　*　　　*

ये विचार उस मनुष्य के लिए बड़े सरल और स्पष्ट हैं, जो सत्य को ढूँढने की ग़रज से विचार करता है। पर जो अपनी ग़लतियों और दुर्गुणभरे जीवन को अच्छा साबित करने की गरज़ से दलीलें करता है,

उसे तो वे विचार विचित्र, रहस्यमय और अन्यायपूर्ण भी दिखाई देंगे ।

* *

प्राप्त की ज[illegible]ाम का कभी अंत नहीं मिल सकता। [illegible] भी मैं इस विषय प्र[illegible]पर ऐकसा विचार करता रहता हूँ। अब भी मैं [illegible] महसूस कर रहा हूं कि अभी इस विषय में बहुत कुछ सोचने सम[illegible]ने की आवश्यकता है। प्रत्येक आदमी इसकी आवश्यकता को जान सकता है। क्योंकि विषय अत्यन्त व्यापक और गम्भीर हैं और मनुष्य की शक्ति बिलकुल मर्यादित और थोड़ी है।

इसलिए मेरा खयाल है कि वे सब लोग जिन्हें इस विषय में दिलचस्पी हो खूब काम करें। अपनी अपनी शक्ति के अनुसार इसका खूब अनुशीलन-परिशीलन करके सबको अपने विचार प्रगट करने चाहिएँ। यद्यपि प्रत्येक आदमी अपने विचार साफ़-साफ़ तौर से प्रकट कर दे तो बहुत सी बातें यों ही साफ़ हो जायँ। जिन बातों को हम बुरी प्रथा के कारण अब तक छिपाते रहे हैं, वे प्रकट हो जाएँगी अबतक अंधेरे में रहने के कारण जो बातें विचित्र सी मालूम दे रही हैं, प्रकाश में आते ही उनकी विचित्रता जाती रहेगी। पुरानी प्रथा के कारण जो बुरी बातें अबतक मामूली रिवाज बन गई थीं, उनकी बुराई प्रकट होने पर हम उन्हें छोड़ने लगेंगे। कई सुविधाओं के कारण मैं इस महत्व-पूर्ण विषय की ओर समाज का ध्यान अधिक आकर्षित कर सका हूँ। अब तो यह आवश्यकता है कि अन्य लोग भी सब तरफ से इस काम को जारी रक्खें।

अन्य अवतरण

[सन् १६०० से १६०८ तक के पत्रों तथा दिनचर्या आदि से]

प्रेम दो प्रकार का है—शारीरिक और आध्यात्मिक । काल्पनिक सुख या सहानुभूति से वैषयिक या शारीरिक प्रेम पैदा होता है । इसके विपरीत आध्यात्मिक प्रेम अधिकांश में अपने दुर्भावों के साथ युद्ध करते हुए पैदा होता हैं । वह इस भावना से पैदा होता है कि मुझे किसी के साथ द्वेष नहीं, प्रेम करना चाहिए । यह प्रेम अक्सर शत्रुओं की तरफ़ दौड़ता है । यही सबसे क़ीमती और सर्वश्रेष्ठ है ।

* * *

आध्यात्मिक प्रेम के क्षेत्र से तुच्छ वैषयिक क्षेत्र में उतर आना सबके लिए साधारण है । पर युवा स्त्री-पुरुषों के जीवन में यह स्थित्यंतर अधिक संख्या में पाया जाता है । मनुष्य-प्राणी की हैसियत से उसके लिए कौनसा प्रेम स्वाभाविक है, यह प्रत्येक मनुष्य को जान लेना आवश्यक है ।

* * *

अलबत्ता वंश को कायम रखने के लिए विवाह एक अच्छी और आवश्यक वस्तु है । पर इसके लिए माता-पिताओं में यह शक्ति और प्रबल इच्छा होनी चाहिए कि वे अपने बच्चों को केवल मोटे-ताज़े ही नहीं बनावें, बल्कि उन्हें ईश्वर और मनुष्य की सेवा करने के योग्य

बनावें। पर ऐसा करने के लिए मनुष्य को दूसरे के परिश्रम पर नहीं, अपने परिश्रम पर जीना चाहिए। समाज से हम जितना लें, उससे अधिक उसे दें। हम लोगों में तो यह कल्पना रूढ़ है कि जब हम [illegible] भरने के साधनों को अपने अधीन कर लें तब विवाह करें। प्राप्त की ज[illegible] पर होना चाहिए ठीक इसके विपरीत। केवल वही शादी करे, जो बिना किसी साधन के जी सके और बच्चों का पालन-पोषण कर सके। केवल ऐसे पिता ही अपने बच्चों का अच्छी तरह पालन कर उन्हें शिक्षित बना सकते हैं।

* * *

तुम पूछते हो कि 'प्रत्येक स्त्री को केवल एक ही पति करना चाहिए और प्रत्येक पुरुष को केवल एक स्त्री, यह नियम किस सिद्धान्त के आधार पर बनाया गया है ?' और इस नतीजे पर पहुंचते हो कि इसके टूटने से किसी बुराई की संभावना नहीं है।

यदि उपर्युक्त नियम को एक धार्मिक नियम समझा जाय तो तुम्हारी शंका बिलकुल ठीक है। क्योंकि धार्मिक नियम स्वतंत्र और सर्वोपरि होता है। पर यह नियम स्वतंत्र मूलभूत धार्मिक नियम नहीं है, हाँ; एक ऐसे नियम के आधार पर ज़रूर बनाया गया है। अपने पड़ोसी को प्यार करो। उसके साथ ठीक वैसा ही सलूक करो, जैसा कि तुम चाहते हो कि वह तुम से करे। इसी प्रकार निकम्मे न रहो चोरी न करो, आदि नियम भी मूलभूत धार्मिक नियमों से बनाये गये हैं। इससे पुराने ऋषि लोग ज़ाहिर करते हैं कि एक ही मूलभूत नियम से किस प्रकार मनुष्य के कल्याण के लिए कई नियम बनाये जा सकते

हैं। साँसारिक सम्बन्धों से चोरी न करने का नियम, जीविका प्राप्त करने के कार्य से निकम्मा न रहने का, अर्थात् दूसरे के परिश्रम पर अपनी आजीविका न चलाने का, मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध से अपराधी या आततायी से बदला न लेने का, बल्कि शान्तिपूर्वक सहन [illegible] क्षमा करने का, और स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध से प्रत्येक को एक ही [illegible] स्त्री से सम्बन्ध रखने का नियम बनाया गया।

धर्म-शास्त्रकार कहते हैं कि यदि इन नियमों का पालन मनुष्य करेगा तो उसका कल्याण होगा। संसार में जैसा बरतने का रिवाज़ पड़ गया है, उसकी बनिस्बत इन नियमों के पालन से उससे अधिक फ़ायदा होगा। यदि कहीं इन नियमों के भंग या अवज्ञा से कोई बुराई न भी पैदा हुई हो तो भी उनका पालन करना ही अच्छा है। क्योंकि अबतक के अनुभव से यही सिद्ध हुआ है कि इनका भंग करने से मनुष्य-जाति पर हज़ारों आपत्तियां आई हैं, दूसरे इस पातिव्रत या पत्नी-व्रत के पालन से मनुष्य ब्रह्मचर्य के आदर्श के अधिक नजदीक पहुंचता है।

तुम्हें एक युवक समझकर मैं चाहता हूँ कि तुम उस आदर्श को और प्रत्येक सच्ची, अच्छी वस्तु के निकट तक पहुँच जाओ। यह केवल अन्तःशुद्धि से ही हो सकता है।

* * *

यदि पुरुष का किसी स्त्री से सम्बन्ध हो जाय तो उसे वह कदापि छोड़े नहीं—खासकर जब उसके बच्चा हो या होने की सम्भावना हो तब तो कदापि न छोड़े।

* * *

पति पत्नि के एक होने के विषय में धर्म ग्रन्थ में जो लिखा है, वह बहुत महत्वपूर्ण है। विवाह-ग्रन्थी द्वारा जो जोड़ दिये गये हैं वे कदापि बिछुड़ नहीं सकते। उन्हें कभी एक दूसरे को न छोड़ना चाहिए, न ... काम करना चाहिए जिससे परिवार में दुर्भाव उत्पन्न होजाय। ... तभी कर सकते हो, जब परमात्मा और अपनी अन्तरात्मा के नज़दीक तुम्हारे लिए और कुछ करना असम्भव हो।

* * *
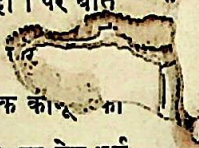
मेरा ख़याल है कि पति का अपनी स्त्री को छोड़ना और खासकर तब, जब उसके बच्चा हो, बहुत बुरा है। इसका परिणाम बहुत भयंकर होता है, उस बेचारी के लिए नहीं, बल्कि अपनी पत्नी को छोड़नेवाले उस पुरुष के लिए भी। मेरा ख़याल है कि अन्य लोगों की भाँति तुमने भी यह समझ की ग़लती की है कि विवाहित जीवन का उद्देश्य सुखोपभोग है। नहीं, यह विचार बिलकुल ग़लत है। विवाहित जीवन में तो सुख बढ़ते नहीं, घटते हैं। क्योंकि इस नवीन जिम्मेदारी के साथ-साथ कई कठिन कर्तव्य मनुष्य पर आ पड़ते हैं। विवाहित जीवन का उद्देश्य जिसकी ओर लोग इतने जोरों से आकर्षित होते हैं, सुखों का बढ़ना नहीं, बल्कि मनुष्य-जीवन के कर्तव्यों की पूर्ति—अर्थात् सन्तानोत्पत्ति है।

* * *

तुम्हारे पुत्र के विषय में मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि वे सब विवाह अच्छे हैं और सम्मान योग्य हैं, जिनमें पति-पत्नी यह प्रतिज्ञा करते हैं कि वे एक दूसरे के प्रति प्रामाणिक रहेंगे। फिर यदि वे मन्त्रपूत भी न हों तो कोई परवाह नहीं।

मेरा खयाल है कि तुम उस सर्व-साधारण और अत्यन्त हानिकर धारणा के शिकार हो रहे हो कि प्रेम-बद्ध होने के मानी सचमुच प्रेम करना है, और तुम उसे एक अच्छी चीज़ भी जान रहे हो। पर बात ऐसी नहीं है। वह एक खराब और बड़ा हानिकर विकार [illegible] परिणाम बड़ा दुःखदायी होता है। एक धार्मिक या नैतिक का[illegible] ज्ञान होने के पहले भले ही आदमी उसमें डूब सकता है; पर प्रेम-धर्म का ज्ञान होते ही इस तरह के वैषयिक प्रेम के चक्कर में आदमी कभी पड़ ही नहीं सकता। वही प्रेम सच्चा है, जो आत्म-विस्मरणशील और निस्वार्थ है। तुम अपनी पत्नी में इस प्रेम को देख सकते हो। वह तुम्हें सच्चा आनन्द देगा। दूसरे व्यक्ति के प्रति यह आकर्षण तुम्हें सिवाय दुःख के कुछ दे ही नहीं सकता, चाहे तुम उसमें कितने ही डूब जाओ, बल्कि उलटा तुम्हारे नीतिशील जीवन को वह नीचे गिरा देगा।

* * *

तुम सोचते हो कि तुम्हारा प्रधान उद्देश उसको बचाना है। हर इसमें तुम अपने-आपको धोखा दे रहे हो। यदि तुम्हारी प्रधान इच्छा यही होती, उस (स्त्री) की नहीं, कि एक मनुष्य-प्राणी की सेवा की जाय, तो इसे पूर्ण करने के लिए तुम्हें बहुत अवकाश था। नहीं, तुम्हारी प्रधान इच्छा सेवा नहीं, विषय-क्षुधा की शान्ति है, और वह बहुत बढ़ गई है। इसलिए यदि तुम मेरी सलाह चाहो तो मैं तुम्हें यही कहूँगा कि तुम उसके साथ कोई सम्बन्ध न रक्खो। बल्कि अपने अंतः-करण में किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं, समस्त मनुष्य-जाति के लिए

प्रेम उत्पन्न करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दो। यही प्रत्येक मनुष्य का जीवन-कार्य है।

* * *

[illegible]कता मनुष्य-जाति के कष्टों के प्रधान कारणों में से एक है। [illegible]यों व-वासना अकल्याण की जड़ है। इसीलिए अनादि काल से मनुष्य-जाति इससे सम्बन्ध रखनेवाली तमाम बातों के विषय में ऐसे नियम बनाती आई है, जिससे कष्टों का परिमाण कम-से-कम होता जाय। इन नियमों को भङ्ग करनेवाले अनेक कष्टों को भोगते हैं। केवल वासना के अधीन अपनेको कर देना विवेक से हाथ धोना है। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण, कठिन और उलझनों से भरा हुआ सवाल है। ऐसी अवस्था में यदि आदमी विवेक से काम न ले तो अवश्य ही उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। लोग कहते हैं, प्रेम एक बड़ा ही उच्च और नीतियुक्त भाव है। ठीक है। पर यहाँ तो प्रत्येक आदमी अपनी वासना को प्रेम समझकर उसे उच्च और दिव्य कहने लग जाता है। अच्छा होता, यदि इसकी परीक्षा करने का कोई साधन होता, जिससे विकार और प्रेम-धर्म को मनुष्य स्पष्ट रूप से समझ सकता। पर ऐसा कोई साधन अभी मनुष्य-जाति को नहीं मिला, जिससे वह आसानी से इसका निर्णय कर सके। इसलिए यदि तुम केवल भावना को ही अपना पथ दर्शक बनाओगे तो वही नतीजा होगा, जो भूल से चोर के हाथों में खजाने की चाबी सौंपने से होता है। विकार तुम्हें पशु बना देगा और दुःखों के महासागर में ले जाकर डुबो देगा।

* * *

मैथुन से अधिक घृणित कार्य और क्या हो सकता है ? यदि मनुष्य के दिल में इसके प्रति घृणा उत्पन्न करना हो तो आदमी इस कुकार्य का सविस्तार हूबहू वर्णन कर दे। इसलिए जो राष्ट्र पशु-जीवन से ऊँचे उठ गये हैं, सभीको मैथुन और उसकी इन्द्रियों के नाममा[illegible] आती है। यदि तुम अपने आप से दूसरा कारण पूछो तो मालू[illegible] जायगा वह सरल है। चूँकि मनुष्य एक विवेकशील और आध्यात्मिक प्राणी है। इसलिए उसे चाहिए कि वह इस पाशविक विकार को रोके। लाचार होकर वह तभी इसके वश में होवे जब वह इससे झगड़ न सके। यह पाशविक विकार मनुष्य के अन्दर इसलिए रख दिया गया है कि मनुष्य, जहाँ तक आवश्यक हो, अपनी जाति को क़ायम रक्खे। मानव-स्वभाव का वह कितना घोर पतन है, जब मनुष्य इस पाशविक विकार को सिंहासन पर अभिषिक्त कर इसकी सहायक इन्द्रियों की तारीफ़ों के पुल बाँधता है। पर आजकल के चित्रकार, सङ्गीत-शास्त्री और शिल्पकार, सभी ललित-कलाविद् यही करते हैं।

सभी बाह्य इन्द्रियों को लुभाने वाली चीज़ों से विकार प्रबल होता है। घर की सजावट, चमकीले कपड़े, सङ्गीत, सुगन्ध, स्वादिष्ट भोजन सुन्दर मृदुल स्पर्श वाली चीजें—सभी विकारोत्तेजक होती हैं। भव्यता, प्रकाश, सूर्य का वैभव, वृक्ष, हरी घास, आकाश, निराभरण मनुष्य-शरीर, पक्षियों का गान, पुष्पों की सुगन्ध, सादा भोजन, फल और प्राकृतिक वस्तुओं के स्पर्श—विकार को उत्तेजित नहीं करते।

* * *

मनुष्य को बुद्धि और भाषा इसलिए नहीं दी गई है कि वह ... पाशविक विकारों के समर्थन के लिए नवीन युक्तियों को ढूँढ कर धोखा ...ने वाली भाषा में पेश करे। बुद्धि और भाषा उसे इसलिए दी गई है ...न की लुभावनी दलीलों को तोड़ने के लिए माकूल दलीलें प्राप्त की ज... प्रतिनिधियों व...र निर्भ्रान्त भाषा द्वारा उनके धुर्रे उड़ा दे, विवेक बुद्धि के आदेशों को समझे और उनका पालन करे। विवेक-बुद्धि ने मनुष्य को पहले ही से सूचित कर रक्खा है कि मनुष्य को अपनी वैषयिकता पर खूब नियन्त्रण रखना चाहिए, अन्यथा उस पर महान् आपत्तियाँ पड़े बिना न रहेंगी। इस विषय में सरल से सरल और साफ़ से साफ़ कर्तव्य यही है कि स्त्री और पुरुष जो एक बार पारस्परिक विषय-बन्धन से सम्मिलित हो गये हों, अपनेको हमेशा के लिए एक अमर-पाश में बँधा हुआ समझें और एक दूसरे के प्रति सच्चे रहें। बस, इसीका नाम विवाह है। असंयम से उत्पन्न होनेवाली महान आपत्तियों से बचने के लिए तथा शिशु-संवर्द्धन के काम को सरल करने के लिए इस संस्कार की स्थापना की गई है।

* * *

शारीरिक प्रलोभनों से झगड़ना ही मानव-जीवन के कर्तव्यों की विशेषता है। जीवन का आनन्द इस युद्ध ही में है। हर हालत में मनुष्य यह प्रयत्न कर सकता है और उसे विजय मिल सकती है। वही विजय प्राप्त नहीं कर सकता, जो इस नियम में विश्वास नहीं करता पर बिना प्रयत्न के विश्वास उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः सबसे पहला पाठ है अनुभव। प्रयत्न करो, हृदय से प्रयत्न करो; और इस कथन की सत्यता को जाँच लो।

जो पतन से बचा हुआ है, उसे चाहिए कि इसी तरह
...के लिए वह अपनी तमाम शक्तियों का उपयोग करे। क्योंकि
पर...र उठना सैकड़ों नहीं, हज़ारों गुना कठिन हो ...
का पालन करना और अविवाहित विवाहित दोनों के लिए ...
तुम इसकी आवश्यकता में भी सन्देह करते हो। पर मैं इसका ...
समझ सकता हूँ। तुम ऐसे लोगों से घिरे हुए हो, जो इस बात का ब...
ज़ोरों से समर्थन करते हैं कि संयम अनावश्यक ही नहीं बल्कि हानिकर भी है।

तब पहले मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह संयम की आवश्यता को समझ ले। वह समझ ले कि विवेकशील मनुष्य के लिए विकारों से झगड़ना अप्राकृतिक नहीं, बल्कि उसके जीवन का पहला नियम है। मनुष्य केवल पशु नहीं, एक विवेकशील प्राणी है। पशु ज़्यादा खाते हैं; पर उनका वह खाना अन्य प्राणियों के साथ झगड़ने में काम आ जाता है। क्योंकि एक जाति का प्राणी कई बार दूसरे का शिकार होता है। कई अन्य बाहरी बातें भी हैं, जिन्हें बदलना उनकी शक्ति के बाहर है। पर मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है। वह सबसे पहले अन्य मनुष्यों तथा प्राणियों के साथ जीवन-कलह के स्थान पर विवेकशील व्यवहार को प्रतिष्ठित कर सकता है। दूसरे, वह उन बातों का प्रतिकार कर सकता है, जो उसके आध्यात्मिक जीवन के लिए हानिकर हों। यह सत्य है कि मनुष्य अभी अपने विवेक से काम नहीं ले रहा है और अपने ही जैसे प्राणियों के नाश पर तुला हुआ है। हजारों आदमी और बालक ज़ाड़े, रोग और असीम परिश्रम के कारण मरते हैं। पर निःसन्देह एक समय